विशाल भारत और राष्ट्रीय आन्दोलन

अरुण कुमार

भारतीय भाषा केन्द्र की एम०फिल०की
उपाधि के लिए प्रस्तुत
लघु शोध प्रबन्ध

भारतीय भाषा केन्द्र,
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

1981

विषय-सूची

		पृ. सं.
भूमिका		
प्रथम अध्याय		
	राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप और हिन्दी पत्रकारिता का संक्षिप्त इतिहास	1
द्वितीय अध्याय		
	19 वीं शती का सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन और 'विशाल भारत'	
	(क) सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि	22
	(ख) विशाल भारत पर इस आन्दोलन का प्रभाव	25
तृतीय अध्याय		
	युगीन आर्थिक और राजनैतिक परिवेश और 'विशाल भारत'	
	(क) विशाल भारत का आर्थिक चिन्तन	44
	(ख) राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास	62
चतुर्थ अध्याय		
	साहित्य और 'विशाल भारत'	
	(क) 'विशाल भारत' की साहित्य-विषय मान्यता और युगीन संदर्भ में इसका विश्लेषण	114
	(ख) राष्ट्रभाषा का आन्दोलन और 'विशाल भारत'	139
	(ग) विशाल भारत की सम्पादकीय नीति	155
पंचम अध्याय		159
	उपसंहार	163
	संदर्भ-सूची	

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान

दिनांक: 8-9-1981

प्रमाणित किया जाता है कि श्री अरुण कुमार द्वारा प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध 'विशाल भारत और राष्ट्रीय आन्दोलन' की सामग्री इस या किसी अन्य विश्वविद्यालय की किसी उपाधि के लिए प्रस्तुत नहीं की गयी ।

(सोम प्रकाश 'सुरेश')
शोध-निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

भू मि का

"विशाल भारत" का प्रकाशन जनवरी 1928 से प्रारंभ हुआ और 1947 तक यह पत्रिका नियमित रूप से निकलती रही । इस पत्रिका के प्रकाशन का एक निश्चित उद्देश्य था, स्वाधीनता के लिए चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन की धार को तेज करना । स्वाधीनता -प्राप्ति इसका उद्देश्य था । इसलिए इसने अपने समय के राष्ट्रीय आन्दोलन में खुलकर हिस्सा लिया ।

1928 के बाद का समय भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के इतिहास में कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । एक तो यह कि 1922 से लेकर 27 के बीच की राजनैतिक गतिविधियों की मन्थर रफ्तार 1928 के बाद तेज होने लगी । दूसरे कि महात्मा गांधी और उनकी कांग्रेस अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद जनता में आस्था और विश्वास जमाने में सफल हुए । अब भारतीय जनता ब्रिटिश सरकार के खिलाफ किसी विकल्प को अपने दिल -ओ-दिमाग में बिठा चुकी थी । परन्तु इसी के साथ कांग्रेस के अन्तर्विरोध भी धीरे-धीरे उजागर होते गए । किसानों और मजदूरों के प्रति कांग्रेस की नीति से जनता धीरे-धीरे वाकिफ होने लगी थी । विशेषकर 1935 के बाद । फिर भी विवाद और अन्तर्विरोध की इस अवधि में कांग्रेस ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया । इसलिए इसका अध्ययन कांग्रेस के चरित्र को बगैर समझे नहीं किया जा सकता है । राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इस अवधि का अपना महत्व है ।

"विशाल भारत" कांग्रेस की विचारधारा को प्रदर्शित करने वाली पत्रिका थी । हालांकि यह कांग्रेस पार्टी का मुख पत्र नहीं था फिर भी कांग्रेस के प्रभाव से यह मुक्त नहीं रहा है । कांग्रेस का लक्ष्य स्वतंत्रता-प्राप्ति था, "विशाल भारत" का प्रकाशन ही इसी कारण हुआ । कांग्रेस के समक्ष स्वतंत्रता की अवधारणा

स्पष्ट नहीं थी, 'विशाल भारत' की भी सथत: यही स्थिति थी । कांग्रेस के अन्दर जिस तरह से वैचारिक संघर्ष चला और जिन कारणों से यह निजी अन्तर्विरोधों से ग्रस्त हुआ, इसका सीधा प्रभाव 'विशाल भारत' पर पड़ा । इसलिए इस पत्रिका पर काम करने की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता है ।

'विशाल भारत' 'सरस्वती' की स्वस्थ परम्परा की एक कड़ी है । अतीतकालीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता की गुरुता से जन-मानस को परिचित कराते हुए अपने समय की तमाम राजनैतिक गतिविधियों का इस पत्रिका ने अपनी दृष्टि से अवलोकन किया है । यह अध्ययन का विषय है कि उस दौर में जब राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी मंजिल की तरफ तेजी से बढ़ रहा था, इस पत्रिका ने किस तरह उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए ठोस जमीन तैयार की । उस समय भारत की गौरवशाली परम्परा 'विशाल भारत' के मंच पर जीवन्त होने लगी । भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन और इसकी प्राचीन परम्परा के बीच किस तरह का संबंध स्थापित हो सकता है ? ब्रिटिश सरकार ने दोनों के बीच एक विभाजक रेखा खींच दी थी । ऐसा राष्ट्रीय आन्दोलन को पीछे धकेलने के लिए किया गया । इसी तरह उसने रचनात्मक कार्यक्रम और राजनैतिक आन्दोलन के बीच भी एक रेखा खींच दी । 'विशाल भारत' का उद्देश्य राजनैतिक था परन्तु इसमें ज्ञान-विज्ञान धर्म और संस्कृति से संबंधी लेख भी छपे । आखिर इन लेखों को छापने का उद्देश्य क्या था ? इस पर राष्ट्रीय आन्दोलन के परिवेश में ही विचार करने की जरूरत है ।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए इसका अध्ययन किया गया है । प्रथम अध्याय में राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है । दूसरे अध्याय में 19 वीं शती के सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन का 'विशाल भारत' पर प्रभाव का विश्लेषण हुआ है । तीसरा अध्याय युगीन राजनैतिक और आर्थिक संदर्भ में 'विशाल भारत' की भूमिका का है तथा चौथा अध्याय पत्रिका में प्रकाशित साहित्य-संबंधी सामग्रियों का विश्लेषण है ।

बनारसीदास चतुर्वेदी जी 'विशाल भारत' के पहले सम्पादक थे। आजकल वे फीरोजाबाद में रह रहे हैं। फीरोजाबाद में उनसे 'विशाल भारत' के संदर्भ में मेरी लंबी बातचीत हुई। उन्होंने इसके विविध पक्षों पर अपने ढंग से प्रकाश डाला। इस लंबी बातचीत (इंटरव्यू) ने इस लघु-शोध-प्रबंध को लिखने में बहुत सार्थक भूमिका निभाई है। इसी तरह श्रीमती सत्यवती मलिक जिनकी कई कहानियां 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई थी, ने भी मेरी मदद की। मेरे लिए इससे बड़ा सुखद संयोग और क्या हो सकता है कि पत्रिका के पहले संपादक इसके लेखक से ही मेरा आमना-सामना हो जाय। इसके अलावे डा० सुधेश जी के दिशा-निर्देश, समय-समय पर डा० केदारनाथ सिंह की सम्मतियों और रामकृष्ण पाण्डेय और मौबिन के साथ होने वाली लंबी बहस की अपनी अहमियत रही है। शोध-प्रबंध की सामग्रियों के लिए मारवाड़ी लाइब्रेरी, चांदनी चौक, राष्ट्रीय अभिलेखागार अजय भवन, तथा बनारसीदास चतुर्वेदी जी की निजी लाइब्रेरी और भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, 35 फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली से मुझे काफी सहायता मिली है। 'विशाल भारत' के 1928 से 1947 तक के अंक तो अन्त तक नहीं मिले। कुछ अंकों के पृष्ठ गायब थे, शायद किसी पाठक ने ऐसा करके आगे के अनुसंधान कर्ताओं के लिए परेशानी पैदा करने का अपना उद्देश्य पूरा किया है। ~~अब्बल तो कुछ अंक ही मुझे प्राप्त नहीं हुए,~~ लाइब्रेरियन से यह पता चला कि अमुक अंक दो साल से किसी पाठक के घर की शोभा बढ़ा रहा है। इस तरह की और भी कई मजबूरियां रही थीं जिनके अंतर्गत यह लघुशोध प्रबंध प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय

राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप और हिन्दी पत्रकारिता का संक्षिप्त इतिहास

भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय और विकास ब्रिटिश शासकों के बढ़ते हुए आर्थिक शोषण के परिणामस्वरूप हुआ । ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज पर पूरा प्रभुत्व बनाये रखने के लिए यहां की आत्म निर्भर ग्राम-व्यवस्था में घुसपैठ की । कृषि के क्षेत्र में उन्होंने दो प्रकार के संपत्ति संबंधों को जन्म दिया -- देश के कुछ हिस्सों में जमींदारी के और अन्य भागों में वैयक्तिक स्वामित्व के सम्पत्ति संबंधों को 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने इस्तमरारी बन्दोबस्त लागू किया । इसके पहले किसान के अलावा जमीन पर किसी भी व्यक्ति का स्वामित्व नहीं था । यह बन्दोबस्त बिहार, बंगाल और उड़ीसा में लागू किया गया । दक्षिण भारत में रयूयतवारी प्रथा लागू कर अलग-अलग किसानों को उनकी जमीनों का मालिक बना दिया । रयूयतवारी प्रथा लागू करने के बाद जमीन निजी सम्पत्ति और बिकाऊ माल बन गई जिसे बाजार में खरीदा और बेचा जा सकता था । अब किसान ग्राम-समुदाय के लिए उत्पादन न करके मंडी के लिए उत्पादन करने लगा । वह अपने गांव के लिए नहीं बल्कि देश और दुनिया की मंडी के लिए उत्पादन करने लगा ।[1]

सामान्यत: प्राचीनकाल में शासन के तीन विभाग होते थे, वित्त विभाग, युद्ध विभाग और सार्वजनिक निर्माण विभाग । कार्ल मार्क्स ने इस पर विस्तार से विचार किया है ।[2] भारत में जितने भी शासक आए, उनके हाथों में सार्वजनिक निर्माण विभाग रहता था जिसमें सिंचाई विभाग प्रमुख था । ब्रिटिश सरकार ने वित्त विभाग और युद्ध विभाग को तो अपने हाथ में ले लिया परन्तु सार्वजनिक निर्माण विभाग को यों ही छोड़ दिया । परिणाम स्वरूप भारत की कृषि-दशा ब्रिटिश शासकों के राज में और दयनीय हो गई ।

1- पी०के०गोपाल कृष्णन ,भारत में अर्थशास्त्र संबंधी विचारों का विकास पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-1981 ।

इससे भी बड़ा घातक काम ब्रिटिश शासकों ने प्राचीन उद्योग धन्धों को नष्ट करने का किया। भारतीय कपड़ा उद्योग विश्व भर में विख्यात था। ब्रिटिश शासकों ने पहले ज्यादा शुल्क लगाकर और फिर कानून बनाकर भारतीय कपड़े को ब्रिटेन के बाजार से निकाल दिया। 1801 में भारत से 13,633 गांठ कपड़ा अमरीका गया। 1829 में 238 गांठ कपड़े का निर्यात हुआ।[1] जो भारत अपने उद्योगों का तैयार माल ब्रिटेन भेजता था, वह अब ब्रिटेन के कारखानों के तैयार माल का बाजार बन गया और उन्हें कच्चा माल भेजने लगा।

1853 में ब्रिटिश शासन ने भारत में रेलवे निर्माण का कार्य प्रारंभ किया। इसका प्रधान उद्देश्य भारत के कच्चे माल को अन्दर के हिस्सों से बन्दरगाहों तक पहुंचाना था। रेल - निर्माण के लिए ब्रिटिश पूंजीपतियों को ब्रिटिश शासकों ने गारंटी दी थी कि रेलवे में हर पूंजी लगाने वाले को भारत के खजाने से सुनिश्चित दर पर मुनाफा दिया जायेगा। प्राय: इसी समय भारत के तीन प्रधान उद्योगों कपड़ा मिलों, कोयला उद्योग और चटकलों का विकास हुआ।

राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि के निर्माण में इन उद्योगों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उद्योगों के विकास के पीछे ब्रिटिश शासकों का हित छुपा था लेकिन जिस देश में नए-नए उद्योग स्थापित हो चुके हों, वहां की जनता औद्योगिक प्रक्रिया से अपना संबंध जोड़ेगी ही।

ब्रिटिश शासन के पहले भी भारत में विदेशी शासक आए। परन्तु ब्रिटिश शासक भारतीय समाज पर लंबे समय तक अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हुए और भारतीय जनता के लिए वे सबसे बड़े दुश्मन साबित हुए। ऐसा क्यों ?

आधुनिक भारतीय इतिहासकारों का एक वर्ग (जवाहरलाल नेहरू, डा० विपिन चन्द्र और रजनीपाम दत्त) का मानना है कि ब्रिटिश शासन के पास नई अर्थ-व्यवस्था थी। यह हमारे यहां की अर्थ-व्यवस्था से ज्यादा विकसित

1- अयोध्या सिंह- भारत का मुक्ति संग्राम, पृ०-9-10, मैकमिलन-1977

थी । दूसरा कारण यह था कि ब्रिटेन में सामंतवादी व्यवस्था की जगह पर पूंजीवादी व्यवस्था आ चुकी थी । इसलिए पूंजीवाद के उद्भव और विस्तार द्वारा ब्रिटेन ने स्वयं को आधुनिक राष्ट्र के रूप में समन्वित कर लिया था । सामंती जन-समुदाय भौतिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टियों से असम्बद्ध होता है, पूंजीवादी राष्ट्र इन दृष्टियों से समन्वित होता है ।

इतिहासकारों का दूसरा वर्ग रमेशचन्द्र ,मजूमदार कालिकिंकर दत्त, पी०सी० राय चौधरी और पर्सिवल स्पीयर का है । मजूमदार के अनुसार यहां राष्ट्रीय जागरण दो मौलिक सिद्धांतों पर आधारित है, सम्पूर्ण भारत की एकता और उसका अपने ऊपर शासन करने का अधिकार[1] । मजूमदार, दत्त और राय चौधरी ने राष्ट्रीय आन्दोलन की जगह पर राष्ट्रीय जागरण शब्द का प्रयोग किया है । राष्ट्रीय जागरण से उनका अभिप्राय भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान विकसित औद्योगीकरण से है । इन लेखकों ने ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत के आर्थिक शोषण की गहरी जांच-पड़ताल न कर औद्योगीकरण को सीधे-सीधे राष्ट्रीय जागरण का कारण मान लिया है । पर्सिवल स्पीयर[2] ने कुछ ऐसी तरह के विचार व्यक्त किये हैं । स्पीयर ने यह प्रश्न उठाया है कि पाश्चात्य सभ्यता को भारतीयों ने इस्लाम की तरह क्यों नहीं स्वीकार किया ? इतिहासकार का उत्तर है कि पाश्चात्य सभ्यता धार्मिक चुनौती के रूप में नहीं आई बल्कि उसका रूप धर्म निरपेक्ष (सैक्यूलर सैटिंग) था । पर तथ्य इसके विपरीत गवाही देते हैं जिनकी चर्चा आगे यथा स्थान होगी ।

भारत में उद्योगों का विकास हुआ, ब्रिटेन के हितों के लिए । एक तरफ औद्योगीकरण दूसरी तरफ जमींदारी तथा रैयतवादी प्रथा, ब्रिटिश शासन के इस दुहरे चरित्र के पीछे उसका स्वार्थ निहित था । इसलिए यहां राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि दो देशों के आर्थिक हितों के टकराव के परिणामस्वरूप

1- मजूमदार (दत्त (राय चौधरी, भारत का बृहत इतिहास ; नवीन भारत की अभिवृद्धि अध्याय में इस पर विचार किया गया है ।
मैकमिलन , नई दिल्ली ।

2- द हिस्ट्री आफ इण्डिया, अ० नेशनल मूवमेन्ट: कल्चर पौलिटिकल आस्पैक्ट, पृ०-158-68, पैंग्विन

निर्मित हुई । सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन इसी का एक अंग था, जिनकी चर्चा अगले अध्याय में होगी । ब्रिटिश शासन का चरित्र धर्म-निरपेक्ष नहीं था । 19 वीं शती के उत्तरार्द्ध में भारतीय जनता को शिक्षित करने के माध्यम के प्रश्न पर ब्रिटिश अधिकारियों में हुई बहस का मूल उद्देश्य था, भारतीय जनता के बीच ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार करना राजा राम मोहन राय ने अपनी पत्रिका "तत्वबोधिनी" का प्रकाशन ईसाई धर्म के प्रचार के प्रतिक्रिया-स्वरूप किया । राममोहन राय पाश्चात्य सभ्यता से बहुत प्रभावित थे परन्तु इन्हीं जैसे नेताओं ने ब्रिटिश सरकार द्वारा किये गये आर्थिक शोषण का पर्दाफाश किया । अतस्व राष्ट्रीय आन्दोलन के आर्थिक और राजनैतिक पक्षों को नहीं भुलाया जा सकता । स्तालिन ने इसी आर्थिक पक्ष की ओर संकेत करते हुए राष्ट्रवाद के उद्भव पर विचार किया है । उनके अनुसार ----

"बाजार पहली पाठशाला है जिसमें पूंजीपति वर्ग अपने राष्ट्रवाद की शिक्षा ग्रहण करता है । ---------- हर तरफ से दबाये गए उत्पीड़ित राष्ट्र का पूंजीपति वर्ग स्वभावत: आन्दोलन के मैदान में उतर पड़ता है और शोर मचाने लगता है । वह दावा करता है कि उसका पक्ष ही राष्ट्र का पक्ष है । -----इस तरह राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो जाता है ।"[1]

19 वीं शती को भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के उद्भव और विकास की शती की संज्ञा दी जा सकती है । इसी शताब्दी में सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन चला, 1857 का संग्राम हुआ और कांग्रेस की स्थापना हुई ।

सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन यहां की राजनैतिक और आर्थिक गतिविधियों से अलग नहीं था बल्कि परवर्ती काल में यहां के राजनैतिक आन्दोलन को तेज करने का यह सफल अस्त्र बना । दूसरे अध्याय में इस पर विस्तार से विचार किया गया है ।

1- जे0वी0 स्तालिन के निबंध मार्क्सिज्म एंड द नैशनल क्वेश्चन से उद्धृत अयोध्या सिंह - भारत का मुक्ति संग्राम- पृ0-2 में संकलित, मैकमिलन, दिल्ली ।

1857 का विद्रोह कई दृष्टियों से भारत का प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम था। इस विद्रोह का स्वरूप स्थानीय नहीं था। जैसा कि रमेशचन्द्र मजूमदार, सालिकिंकर दत्त और पी० सी० राय चौधरी मानते हैं कि यह विद्रोह मात्र एक विप्लव था, पूर्ण संगठित राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप नहीं ले सका था। वास्तव में इस विद्रोह की एक खास बात यह थी कि इसमें अवध प्रान्त से लेकर दिल्ली बंगाल और बिहार तक की जनता शामिल थी। इसलिए इसे स्थानीय विप्लव नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात यह कि यह विद्रोह सिपाहियों के असंतोष का परिणाम मात्र न होकर सम्पूर्ण जनता के असंतोष का परिणाम था। ब्रिटिश शासन ने यहां की पारम्परिक आर्थिक संरचना को तहस-नहस कर दिया था। यहां की भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य को दरिद्र बताते हुए 1835 में लार्ड मैकाले ने शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी को घोषित कर दिया था। क्रिश्चियन धर्म का प्रचार प्रसार भी इस बीच बड़े पैमाने पर हुआ। इसलिए आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक स्तरों पर ब्रिटिश विरोधी भावना 1857 के विद्रोह में प्रवृत्त थी। इन्हीं कारणों से 1857 के विद्रोह में भारतीय जनता का संगठित रूप दिखलाई पड़ता है।

इस शताब्दी में ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियां क्या थीं, इस पर संक्षेप में विचार करने पर बात और स्पष्ट हो सकती है। शासन का दुहरा चरित्र था। रूप और परिवहन और संचार में परिवर्तन हो रहे थे, दूसरी ओर खेती का विकास बिल्कुल रुक गया। आबादी बढ़ने से ज़मीन पर दबाव बढ़ने लगा। इंग्लैण्ड की मशीनी वस्तुओं के आयात में काफी वृद्धि हुई और भारत से उसको कच्चे माल का निर्यात बढ़ा। उस समय के आर्थिक परिवर्तन की यह विशेषता थी कि उत्पादन के बढ़ने के साथ-साथ आबादी भी बढ़ने लगी थी। ब्रिटिश शासक बढ़ती हुई आबादी को भारत की दरिद्रता का कारण बताते थे। उस समय की भूमि-व्यवस्था की दो मुख्य पद्धतियां थी-- जमींदारी तथा रैयतवारी। जमींदारी पद्धति के अधीन क्षेत्र 48.1 था और रैयतवारी के अधीन 52 प्रतिशत।[1]

1- डा० तारा चन्द्र- भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास दूसरा भाग- पृष्ठ-247- 298, भारत सरकार की ओर प्रकाशित।

ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों ने बड़ी संख्या में किसानों, दस्तकारों, हस्तशिल्पकारों को दरिद्र बना दिया था। 1857 के विद्रोह को मात्र विप्लव माननेवाले इन तथ्यों को कैसे झुठला सकते हैं ?

1885 में कांग्रेस की स्थापना हुई। इसके पहले कई महत्वपूर्ण संगठन प्रकाश में आ चुके थे, जैसे इंडियन एसोसिएशन (26 जुलाई 1876) कलकत्ता स्टुडेंट्स एसोसिएशन (1875) यूरेशियन एंड एंग्लो इंडियन एसोसिएशन (1876) इत्यादि।[1]

यह सर्वमान्य है कि कांग्रेस का जन्म ब्रिटिश शासन और जनता के बीच सम्पर्क स्थापित करने के लिए हुआ था। कांग्रेस के संस्थापक ए० ओ० ह्यूम लम्बे समय तक भारत सरकार के सचिव रह चुके थे। 1879 में इस पद से हट जाने के बाद वह 1882 तक सरकार के बहुत जिम्मेदार पदों की शोभा बढ़ाते रहे। इसलिए ह्यूम भारतीय जनता के विद्रोह से भली-भांति परिचित थे।

28 दिसंबर 1885 को ग्वालियर टैंक स्थित गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज में डब्लू० सी० बनर्जी की अध्यक्षता में इसकी पहली सभा हुई जिसमें सौ प्रतिनिधि थे। इन प्रतिनिधियों में गैर सरकारी प्रतिनिधियों की संख्या 70-79 के आस-पास थी।[2]

अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए बनर्जी ने कांग्रेस के चार लक्ष्यों का उल्लेख किया---

(1) हमारे देश की भलाई के लिए बहुत दिल से काम करने वाले साम्राज्य के सब हिस्से के लोगों के बीच व्यक्तिगत घनिष्ठता और मैत्री स्थापित करना।

(2) मित्रतापूर्ण वार्तालाप के द्वारा हमारे देश से प्रेम करने वाले लोगों के बीच जातिगत, धर्मगत तथा प्रान्तगत विद्वेषों को मिटाना तथा

1- अयोध्या सिंह- भारत का मुक्ति संग्राम- मैकमिलन, दिल्ली, अयोध्या सिंह ने इन संगठनों की भूमिका पर विस्तार से विचार किया है।

2- अयोध्या सिंह- भारत का मुक्ति-संग्राम- पृष्ठ-127 संस्करण--1977

राष्ट्रीय एकता की उन भावनाओं को पूरी तरह विकसित और दृढ़ करना जिनका विकास हमारे प्यारे लार्ड रिपन के सदैव स्मरणीय शासन में हुआ था ।

(3) आजकल के कुछ बहुत ही महत्व के राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों पर भारत के शिक्षित वर्ग के परिपक्व मत को पूरी बहस के बाद व्यक्त करना ।

(4) वे नीतियां और उपाय निर्धारित करना जिन्हें आगामी बारह महीनों में सार्वजनिक हित के काम करने के लिए अपनाकर चलना देशी राजनीतिज्ञों के लिए वांछनीय होगा ।[1]

कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन 1886 में दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में कलकत्ता में हुआ जिसमें 434 प्रतिनिधि आए थे । इसका तीसरा अधिवेशन 1887 में मद्रास में सैयद बदरुद्दीन तैयब जी की अध्यक्षता में हुआ जिसमें 607 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया था । इसी अधिवेशन में आर्म्स एक्ट और इलबर्ट बिल के खिलाफ प्रस्ताव पास हुआ था ।[2] कांग्रेस का चौथा अधिवेशन 1888 में इलाहाबाद में हुआ । इस अधिवेशन की खास बात यह थी कि इसमें सर सैयद अहमद के विरोध के बावजूद 222 मुसलमान प्रतिनिधि आए थे । इसी अधिवेशन में यह घोषणा की गई थी कि हम सबसे पहले भारतीय हैं, हिन्दू, मुस्लिम, मराठी, बंगाली बाद में ।[3]

कांग्रेस के उदय के पीछे ब्रिटिश शासन के हित का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुछ इतिहासकार (अयोध्या सिंह) नरमदलीय विचारधारा पर आक्षेप करते हुए कांग्रेस की इस पृष्ठभूमि की व्याख्या उपरोक्त दृष्टि के आधार पर करते हैं । उनकी दृष्टि में नरमदलीय नेता ब्रिटिश शासन के खिलाफ एक सशक्त राष्ट्रीय आन्दोलन को खड़ा करने में असफल रहे । इस संदर्भ में संक्षेप में विचार करने की आवश्यकता है ।

1- अयोध्या सिंह , भारत का मुक्ति-संग्राम : पृष्ठ-128 संस्करण 1977

2- -- वही --- पृ. 137

3- -- वही --- पृ. 137-38

ज्ञातव्य है कि इन्हीं नरम-दलीय नेताओं ने ब्रिटिश शासकों द्वारा किये गए आर्थिक शोषण का भंडाफोड़ किया । रमेशचन्द्र दत्त ने ब्रिटिश शासन के दुष्परिणामों में स्वदेशी उद्योग के विनाश को प्रमुख माना । दादा भाई नौरोजी ने ब्रिटिश बुद्धिजीवियों पर प्रहार किया । ब्रिटिश बुद्धिजीवियों के अनुसार भारत की दरिद्रता का कारण बढ़ती हुई आबादी था । नौरोजी के अनुसार इसका कारण दोषपूर्ण वितरण-प्रणाली और उत्पादन में कमी था । ब्रिटिश बुद्धिजीवी कहते थे कि भारतीय जनता की आवश्यकताएं बहुत सीमित हैं और उन्हें वह पूरा कर लेती है । नौरोजी का कहना था कि भारतीय जनता अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ है । ब्रिटिश बुद्धिजीवियों ने अपने मत के प्रमाण में भारतीय जनता की आय प्रस्तुत की जिसमें दिखलाया गया कि उनकी आमदनी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए काफी है । नौरोजी ने ब्रिटिश बुद्धिजीवियों से अनुरोध किया कि भारतीय जनता की आय के निर्धारण में जमींदार और बड़े पूंजीपतियों को शामिल न करें ।[1]

इतना ही नहीं, कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन (1887) में इन्हीं राष्ट्रवादी नेताओं ने भारत में तकनीकी शिक्षा के प्रचार-प्रसार को अपने कार्यक्रम का अंग बनाया । महागोविन्द रानाडे ने विदेशी मशीन की आवश्यकता पर बल देते हुए भारतीय जनता के हित में मशीनों का उपयोग करने पर बल दिया ।[2]

क्या नरमदलीय नेता भारत का विकास नहीं चाहते थे । क्या वे भारतीय जनता को एक दिशा नहीं देना चाहते थे ? ये नेतागण भारत में शक्तिशाली जनमत खड़ा करना चाहते थे । इस ओर उनके बढ़ने का तरीका अलग था । यह कई माने में उग्रवादियों से अलग था । एक अन्तर यह था कि वे ब्रिटिश

1-(क) विपिनचन्द्र : भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का विकास - प्रथम अध्याय मैकमिलन , दिल्ली ।

(ख) भारत में अर्थशास्त्र संबंधी विचारों का विकास- (पी० के० गोपालकृष्णन) पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस दिल्ली-1981

2- रानाडे-ए बायोग्राफी- पृष्ठ— संस्करण हिज राइटिंग्स ऐन्ड स्पीचेज के आधार पर

सरकार को भारतीय जनता की वास्तविक स्थितियों से अवगत कराना चाहते थे । 1889 की कांग्रेस की ब्रिटिश समिति इसका प्रमाण है । दादा भाई नौरोजी ने अपने जीवन का अधिकांश भाग इंग्लैंड में बिताया और वहां की जनता के सामने भारतीय पक्ष को रखा । इनकी राजभक्ति कैसी थी ? इनकी राजभक्ति थी, ब्रिटिश शासकों के साथ बैठकर उनकी पोल खोलना और भारतीय तथा ब्रिटिश जनता को उनके कारनामों से परिचित कराना । वे राजभक्ति के सार में राजद्रोही थे । यहां दो इतिहासकारों मजूमदार और सिंह की अतिवादिता भी देखिए । मजूमदार उसी पुस्तक में कांग्रेस को ऊंचा करके देखते हैं, दूसरी तरफ वे 1857 के संग्राम को मात्र स्थानीय विप्लव की संज्ञा देते हैं । मजूमदार ब्रिटिश शासन के पक्षधर थे । सिंह कांग्रेस के घन पक्ष को नकार देते ऐं । वास्तव में ये दोनों यहां के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारंभिक दौर के दुहरे चरित्र की वास्तविकता से अनभिज्ञ रहे । दोनों अपने विभिन्न आग्रहों से मुक्त होकर इतिहास-लेखन नहीं कर सके ।

बीसवीं शती के प्रारंभिक समय में अर्थात् राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में कांग्रेस के चरित्र पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक होगा ।

इस अवधि में बंगभंग विरोधी आन्दोलन और स्वदेशी आन्दोलन हुए । लार्ड कर्जन ने 20 जुलाई 1905 को बंग भंग की घोषणा की । कांग्रेस ने इसके विरुद्ध आन्दोलन छेड़ा । प्रारंभ में यह आन्दोलन सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और कृष्णकुमार जैसे नरमदलीय नेताओं के हाथों में था किन्तु बाद में इसका नेतृत्व गरमदलीय नेताओं के हाथ में चला गया । 16 अगस्त 1905 को बंग विभाजन का कानून लागू किया गया । उस दिन विरोधी नेताओं ने सारे देश में शोक दिवस मनाया ।

उन्हीं दिनों स्वदेशी आन्दोलन भी चला जिसका उद्देश्य विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करना और स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन देना था । बंग भंग विरोधी आन्दोलन और स्वदेशी आन्दोलन ने देश-भक्ति की भावना को और तीव्र किया । भारत के अतीत की खोज, भारतीय सभ्यता और संस्कृति की गौरवगाथाओं को जनता तक पहुंचाना , भारत की पूर्ववर्ती परम्पराओं से आज की

10 स्थितियों को जोड़कर देखना, राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारंभिक दौर की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियां रही हैं। यह भी स्मरणीय है कि बंग विरोधी आन्दोलन के गहरे प्रभाव से कांग्रेस के दो गुटों के रूप में विभाजन की प्रक्रिया ज्यादा तेज हुई। दिसम्बर 1907 के सूरत कांग्रेस में तो गरम दल और नरम दल दोनों बिल्कुल अलग हो गए।

स्वदेशी और बंग भंग विरोधी आन्दोलन में शहरी मध्यवर्ग की विशेष भूमिका थी। विपिनचन्द्र ने लड़ाकू राष्ट्रवादियों की भूमिका पर विचार करते हुए इस आन्दोलन का चरित्र-चित्रण इस प्रकार किया है---

"उनका आन्दोलन शहरी निम्न और मध्यमवर्गों तक ही सीमित रहा। उनके बीच भी वे प्रभावकारी दल नहीं संगठित कर सके। फलस्वरूप सरकार उनको दबाने में बहुत हद तक सफल हो गयी।[1]

अपने प्रारंभिक दौर में कांग्रेस का चरित्र शहरी लोगों का था। जे०बी० कृपालानी ने गांधी जी की जीवनी में इसका बहुत अच्छा वर्णन किया है।[2] महात्मा गांधी ने 1901 में दक्षिण अफ्रीका से लौटे। वे यहां के कांग्रेस अधिवेशन में दक्षिण अफ्रीका की समस्याओं पर प्रस्ताव पास करवाना चाहते थे। अधिवेशन दिन के ग्यारह बजे से प्रारंभ हुआ। रात के ग्यारह बजे तक चला। [illegible] अधिवेशन के अंतिम समय में बिजली की गति के समान प्रस्ताव पारित हो रहे थे। जब गांधी जी का प्रस्ताव आया तो फिरोजशाह मेहता ने प्रतिनिधियों से पूछा कि यह प्रस्ताव उन्हें पसन्द है या नहीं। प्रतिनिधियों ने उनकी पसन्द जाननी चाही। मेहता जी ने हां किया और प्रतिनिधियों ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास कर दिया।[3]

1- विपिनचन्द्र- आधुनिक भारत- पृष्ठ-197, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, 1976।

2- जे०बी० कृपलानी- महात्मा गांधी: जीवन और चिन्तन, पृ. 17-19 भारत सरकार द्वारा प्रकाशित।

3- --- वही --- पृष्ठ- 17-19 ।

1917 में महात्मा गांधी ने चम्पारण में सत्याग्रह आन्दोलन चलाया। नील की खेती करनेवाले किसानों पर यूरोपीय बागान मालिकों द्वारा हो रहे अत्याचार के खिलाफ यह आन्दोलन चलाया गया। 1919 में महात्मा गांधी ने रौलैट एक्ट के खिलाफ आन्दोलन चलाया। राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधी जी के आगमन का सबसे अच्छा परिणाम यह निकला कि अब आन्दोलन मात्र शहरी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रह गया था। महात्मा गांधी ने फरवरी 1919 में सत्याग्रह सभा की स्थापना और 1921 में असहयोग आन्दोलन का नेतृत्व कर आन्दोलन को भारतीय गांवों तक पहुंचा दिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गांधी के उदय ने आन्दोलन को जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास किया। परन्तु 1920 के बाद से ही कांग्रेस का दुहरा चरित्र और स्पष्ट होने लगा। इस दुहरे चरित्र को विविध संदर्भों में देखा जा सकता है।

1921 में गांधी जी के नेतृत्व में देश की समस्त जनता एकताबद्ध हुई। 1920 की कलकत्ता कांग्रेस में असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव पारित हुआ। सारे देश में असहयोग आन्दोलन पूरे वेग से चला। इसी बीच उत्तर-प्रदेश के देवरिया जिले के चौरीचौरा गांव में 5 फरवरी 1922 को 300 किसानों ने एक जुलूस पर पुलिस ने गोलियां चलाईं। क्रुद्ध भीड़ ने गांव के थाने में आग लगा दी। तत्पश्चात 12 फरवरी 1922 में बारदोली (गुजरात) में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई जिसमें गांधी जी ने आन्दोलन को बन्द करने का निर्णय किया। उन्होंने किसानों से जमींदारों को लगान देने का अनुरोध किया। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के प्रस्ताव रचनात्मक कार्यक्रम को भी तेजी से कार्यान्वित करने का अनुरोध किया गया। रचनात्मक कार्यक्रम को गतिशील बनाने का अर्थ इसे राजनीति से अलग कर देखने का कदापि नहीं था। जनता को धीरे-धीरे राजनीतिक आन्दोलन में सक्रिय कराना ही इसका लक्ष्य था। परन्तु यह राजनीति कैसी थी ? स्वाधीनता - प्राप्ति इसका लक्ष्य जरूर था परन्तु कैसी स्वाधीनता और किसके नेतृत्व में स्वाधीनता ? कांग्रेस के अनुसार किसानों से जमींदारों को लगान देने का अनुरोध करना आन्दोलन में देश की समस्त जनता की हिस्सेदारी के विचार को और पुष्ट

12 करता है । इस विचार से समस्त जनता में जमींदार और व्यापारी भी आयेंगे और खेत मजदूर भी आयेंगे । गांधी जी और उनकी कांग्रेस की जनता के संबंध में यह अवधारणा थी ।

यह कांग्रेस के चरित्र का दुहरापन था । एक तरफ ब्रिटिश शोषण के खिलाफ रोष दूसरी तरफ जमींदारों की रक्षा । यह दुहरापन समय-समय पर व्यक्त हुआ है जिसकी व्याख्या अगले अध्यायों में 'विशाल भारत' के संदर्भ में की जाएगी ।

राष्ट्रीय आन्दोलन के चौथे दशक में कांग्रेस पार्टी में प्रगतिशील वर्ग धीरे-धीरे पार्टी पर हावी होने लगा था । जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस जैसे नेताओं ने जमींदारी प्रथा की भर्त्सना करनी शुरू कर दी थी । 1936 के लखनऊ अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने फासीवाद और प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध चलनेवाले आन्दोलन की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित किया । उन्होंने कांग्रेस के अन्दर वर्तमान मध्यवर्ग के साथ मजदूरों और किसानों की साझेदारी की बात की । इसी अधिवेशन में उन्होंने समाजवादी लक्ष्य की भी घोषणा की ।[1]

कांग्रेस के अन्दर वामपंथी तबका(वर्ग) धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था । परन्तु कांग्रेस के भी अपने भटकाव (डेवियेशन्स) थे । 1935 के चुनावों के बाद राज्यों में कांग्रेस की सरकार बनी । इनकी कार्यनीतियों ने जनता के सामने कांग्रेस के दूसरे पक्ष को अच्छी तरह उजागर कर दिया । 'विशाल भारत' ऐसे मौके चूका नहीं । उसने तत्कालीन कांग्रेसी सरकार के कारनामों की खुली आलोचना की । द्वितीय विश्वयुद्ध में कांग्रेस की भूमिका उसके भटकाव का एक नतीजा है । जो जवाहरलाल नेहरू समाजवाद की बात पांच साल पहले कर रहे थे, वही अब कम्युनिस्ट पार्टी को देशद्रोही कहने लगे । तृतीय अध्याय में कांग्रेस के इस भटकाव पर विस्तार से चर्चा की जाएगी । वस्तुतः भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के बाद भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग धीरे-धीरे समाजवादी विचारधारा के करीब आने

---

1. अयोध्या सिंह- भारत का मुक्ति संग्राम : पृष्ठ-611

13 लगा था । कांग्रेस पार्टी जो कभी जमींदारों की पक्षधर थी, बुद्धिजीवियों के रुख को देखते हुए समाजवाद की ओर उन्मुख हुई और ऐन मौके पर समाजवादियों को देशद्रोही भी कहने से बाज नहीं आई ।

इस तरह राष्ट्रीय आन्दोलन में कांग्रेस की भूमिका का एक प्रबल पक्ष था, ब्रिटिश शोषण के खिलाफ हाथ उठाना और निर्बल पक्ष था भारतीयों जमींदारों के पक्ष में हाथ गिराना ।

भारत में पहला पत्र हिक्कीज बंगाल गजट अथवा कलकत्ता जेनरल एडवर्टाइजर (29 जनवरी 1780) श्रीराम प्रेस कलकत्ता से प्रकाशित हुआ ।[1] इंडिया गजट नामक दूसरा पत्र (नवम्बर 1780) भी प्रकाशित हुआ ।[2] फिर भी राष्ट्रीय पत्रकारिता का प्रारंभ संवाद कौमुदी (1821) नामक बंगला पत्र से हुआ जिसके सम्पादक राजा राममोहन राय थे । इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य सती प्रथा जैसी सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करना था ।[3]

राजा राममोहन राय ने जब राष्ट्रीय पत्रकारिता की नींव रखी तो ब्रिटिश सरकार का शंकाग्रस्त होना भी स्वाभाविक था । 10 अक्तूबर 1822 को अपने एक नोट में विलियम बटरवर्थ बैले ने लिखा---

"स्वतंत्र राज्य के लिए स्वतंत्र पत्रों की जितनी अनिवार्यता हो, मेरी राय में इस देश की हमारी व्यवस्था के साथ या भारत में हमारे राज्य की असाधारण प्रकृति के साथ स्वतंत्र पत्र मेल नहीं खाते ।[4] इसी के परिणामस्वरूप 1823 में कार्यकारी गवर्नर जेनरल के रूप में जान एडम ने एक रेगुलेशन प्रवर्तित किया जिसमें पत्रों की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया गया । इसमें यह प्रावधान था कि

1- कृष्णबिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता- पृ0-18-19, भारतीय ज्ञानपीठ, 1958 ।

2- --- वही --- पृष्ठ- 18-19 ।

3- --- वही --- पृष्ठ-20

4- ताराचन्द्र : भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास (भाग दो) पृष्ठ- 195, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार ।

सार्वजनिक संवाद तथा सरकारी कार्रवाइयों की आलोचना से संबंधित कोई भी पुस्तक सरकारी लायसेंस के बिना प्रकाशित नहीं होगी । लायसेंस प्राप्त करने के लिए शपथ पत्र देना पड़ता था और मुद्रक, प्रकाशक और मालिक का नाम देना भी जरूरी था ।

राष्ट्रीय पत्रों का मुख्य उद्देश्य जनता को शिक्षित करना और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ जन-मानस में राजनैतिक चेतना का संचार करना था । °संवाद कौमुदी° सामाजिक समस्याओं को लेकर चलने वाला पत्र था । इसी प्रकार यंग बंगाल ग्रुप का पत्र °ज्ञानान्वेषण° का उद्देश्य धार्मिक और वैज्ञानिक विचारों से जनता को अवगत कराना था ।[1] 1832 में प्रथम मराठी समाचार पत्र °बम्बई दर्पण° प्रकाशित हुआ जिसके सम्पादक बालशास्त्री जम्भेकर ने इस पत्र का उद्देश्य जनता को अपने देश की समृद्धि और खुशहाली से संबद्ध विषयों की जानकारी देना बताया ।[2]

दयाल सिंह मजीठिया ने 1877 में अंग्रेजी दैनिक °ट्रिब्यून° का प्रकाशन लाहौर से प्रारंभ किया जो पंजाब की उदारवादी राष्ट्रीय विचारधारा से प्रभावित पत्र था ।[3] इसी प्रकार 1878 में मद्रास से वीरराघवाचारी तथा अन्य देश भक्तों ने अंग्रेजी साप्ताहिक °हिन्दू° का प्रकाशन प्रारंभ किया । इसका दृष्टिकोण भी उदारवादी था । 1861 में बम्बई से °टाइम्स आफ इंडिया° का प्रकाशन 1876 में सिविल एंड मिलिट्री गजट° का प्रकाशन[4] राष्ट्रीय पत्रकारिता के कुछ उदाहरण हैं ।

इस प्रकार भारत में पत्रकारिता का उद्भव जनता को शिक्षित करने और ब्रिटिश शासन के खिलाफ उसे जागृत करने के लिए हुआ ।

1- कृष्ण बिहारी मिश्र- हिन्दी पत्रकारिता, पृष्ठ-20

2- ताराचन्द्र : भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास (भाग दो)पृ०-202

3- ए० आर० देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ०-179

4- --- वही ---- पृष्ठ- 179-81 ।

हिन्दी के विद्वानों के बीच लंबे समय तक हिन्दी के प्रथम पत्र पर वाद-विवाद चलता रहा । अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने बनारस अखबार को हिन्दी का प्रथम पत्र घोषित किया । राधाकृष्ण दास ने 'हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास ' में भी इसी को हिन्दी का प्रथम पत्र माना । यह पुस्तक 1894 ई० में प्रकाशित हुई थी । 1912 में 'भारत मित्र ' में बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी पत्रों के इतिहास पर एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने इसी अखबार को हिन्दी का प्रथम पत्र माना ।[1]

शायद 'विशाल भारत ' दूसरा पत्र है जिसने विस्तार से 'हिन्दी के प्रथम समाचार पत्र '[2] पर विचार किया । 1912 ई० के बाद 1931 ई० में ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी ने गड़े मुर्दे को उखाड़ने का प्रयास किया । लेखक के पास इसके लिए ठोस आधार भी है । बंगला समाचार पत्र 'समाचार चन्द्रिका ' ने 'नागरी का नवीन संवाद पत्र ' शीर्षक से एक खबर छापी । लेखक के अनुसार किसी अन्य बंगला संवाद पत्र में इस पत्रिका (उदंत मार्तण्ड) के बारे में टिप्पणी प्रकाशित हुई थी, जो समाचार चन्द्रिका में छपी । समाचार चन्द्रिका का प्रकाशन राजा राम-मोहन राय के संरक्षण में प्रकाशित और नील रतन हलदार द्वारा सम्पादित बंगदूत (9 मई 1929) की सुधारवादी नीतियों के विरोध में हुआ था ।[3] हालांकि मिश्र जी ने 'समाचार चन्द्रिका ' का प्रकाशन वर्ष नहीं दिया है लेकिन पत्र के प्रकाशन के उद्देश्य से ऐसा लगता है कि यह पत्र 1929 में ही प्रकाशित हुआ होगा । इस पत्र ने निम्नलिखित खबर छापी थी जिसका उल्लेख बनर्जी साहब ने अपने लेख में किया है -----

'अभी हाल में पश्चिमीय लोगों में गुण का प्रचार और ज्ञान का संचार करने के लिए - जिसकी अब तक उक्त देश के लोगों में चर्चा मात्र भी नहीं थी --

---

1- कृष्ण बिहारी मिश्र : हिन्दी पत्रकारिता , पृष्ठ- 96-97 ।

2- वि० मा०, फरवरी 1931 ।

3- कृष्ण बिहारी मिश्र: हिन्दी पत्रकारिता- पृष्ठ-21 ।

अन्तर्वेद देशान्तरगत कानपुर ग्राम-निवासी स्वदेश-जन-सुखाभिलाषी कान्यकुब्ज जातीय श्रीयुत जुगलकिशोर शुक्ल ने जाड्यतारूपी तिमिर से आच्छादित हिन्दुस्तानी लोगों के विद्यारूपी मणि पर प्रकाश और उदन्त मार्तण्ड के उदय करने के अभिप्राय से श्री श्रीयुत गवर्नर जनरल की कौंसिल सभा से इस विषय की विवरण पत्रिका उपस्थित करने की अनुमति प्राप्त की है ।[1]

उसी लेख में लेखक ने अम्बिकादत्त वाजपेयी की इस मान्यता का खण्डन किया है कि 'बनारस अखबार' हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र था । लेखक के अनुसार 'बनारस अखबार' का प्रकाशन 1945 ई० से प्रारंभ हुआ । उसने 'समाचार चन्द्रिका' से जिस अंश को उद्धृत किया है उससे पता चलता है कि 'बनारस अखबार' निकलने के पन्द्रह साल पहले हिन्दी में जुगल किशोर शुक्ल के 'उदंत मार्तण्ड' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था जो हिन्दी का प्रथम पत्र घोषित हुआ । ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी के अनुसार इस पत्र को प्रकाशित करने की योजना 1826 में बनी थी । अप्रैल 1823 में ब्रिटिश सरकार ने प्रेस संबंधी पहला कानून जारी किया । इसके बाद शुक्ल जी ने एक अनुष्ठान पत्र निकाला । उन्होंने सरकार से लायसेंस प्राप्त करने के लिए दरख्वास्त दी, 16 फरवरी 1826 ई० को यह दरख्वास्त मंजूर कर ली गई और 30 मई 1826 को पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ । यह साप्ताहिक पत्र था । ब्रजेन्द्रनाथ बनर्जी के लेख से इसकी पुष्टि होती है कि हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' ही था ।

'उदंत मार्तण्ड' 'बनारस अखबार' और अन्य पत्रों के उद्देश्यों पर भी संक्षेप में चर्चा कर लीजिए । ब्रजेन्द्र नाथ बनर्जी के लेख की दूसरी किश्त 'हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र' शीर्षक से प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने 'उदंत मार्तण्ड' पर विचार किया है । भारत में विलायती कपड़ों की बाढ़ पर 'उदन्त मार्तण्ड' की टिप्पणी देखें ---

'आजकल हमारे देश में लगभग 60000000॥ का विलायती कपड़ा आता है ।

1- वि० मा० फरवरी 1931 ।

आजकल हमलोगों को शारीरिक लज्जा को भी निवारण करने के लिए विदेशियों के आगे हाथ फैलाना पड़ता है। मगर क्या भारतवर्ष सदा से वस्त्र के लिए दूसरों पर आश्रित रहा है ?[1] एक सौ पन्द्रह वर्ष पहले विलायती कपड़े की कितनी खपत भारतवर्ष में थी इसका विवरण 'उदन्त मार्तण्ड' के 5 सितम्बर सन् 1826 ई० के अंक में इस प्रकार दिया गया है :---

'सन् 1815 में 1 लाख 49 हजार 68 रुपये, 1816 में 1 लाख तिरसठ हजार 615 रुपये और 1817 में 4 लाख 23 हजार 834 रुपये का और 1824 में 11 लाख 38 हजार 1 सौ 66 रुपये का माल आया।'[2] इस निबन्ध के लेखक बनर्जी साहब के अनुसार व्यापारिक शोषण की यह नीति जिसकी ओर 'उदंत मार्तण्ड' ने संकेत किया, बहुत खतरनाक था।

हिन्दी के इस प्रथम पत्र ने ब्रिटिश शासन के शोषण के खिलाफ कदम बढ़ाया। हिन्दी पत्रकारिता की नींव क्या थी, किस ज़मीन पर इसका जन्म हुआ, 'उदंत मार्तण्ड' के उपरोक्त विचारों को पढ़कर इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार 'बनारस अखबार' ने जिसका प्रकाशन सन् 1845 ई० में आरंभ हुआ, यह घोषणा की ---

'सुबनारस अखबार यह, शिव प्रसाद आधार।
बुधि विवेक, जन, निपुन को, चित हित बारम्बार।
गिरिजापति नगरी जहां, गंगा अमल जलधार।
नेता शुभाशुभ मुकुट को, लखो विचार विचार।'[3]

कृष्ण बिहारी मिश्र जी ने स्वीकार किया है कि भारतवासियों में ज्ञान का प्रसार करने के लिए इस अखबार का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इसी प्रकार हिन्दी के प्रथम दैनिक समाचार पत्र 'समाचार सुधावर्षण' जो 1854 में श्यामसुन्दर सैन के सम्पादकत्व में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था, के एक अंक में एक खास नीति के

1- वि०भा०, अप्रैल 1931, पृष्ठ- 523-30

2- ---- वही --- पृष्ठ- 525

3- कृष्ण बिहारी मिश्र- हिन्दी पत्रकारिता, पृष्ठ-30, संस्करण : 1958

लिए हिन्दुस्तानियों को धिक्कारा गया । जब हिन्दू एक अंग्रेज अपराधी की सहायता कर रहे थे ।[1] अपने जातीय स्वर के कारण इस पत्र को अंग्रेजों का कोपभाजन बनना पड़ा ।

हिन्दी के इन प्रारंभिक पत्रों के संक्षिप्त अध्ययन से दो बातें सामने आती हैं । पहली बात यह कि हिन्दी पत्रकारिता का उद्भव एक ऐसे समय में हुआ जब अंग्रेज अपनी उन्नत अर्थ-व्यवस्था के साथ भारतीय सामाजिक व्यवस्था में घुस-पैठकर अपना स्थान बना चुके थे । इन पत्रों में इसके खिलाफ प्रतिक्रिया व्यक्त हुई । दूसरी बात यह कि इन पत्रों का उद्देश्य जनता में ज्ञान का प्रचार - प्रसार करना था । इस दौर में सामाजिक धार्मिक, जातीय प्रश्नों पर पत्रिकाओं ने अधिक ध्यान केन्द्रित किया । तब राजनीतिक पत्रकारिता शुरू नहीं हो पाई । 1857 के पहले की पत्रकारिता का यही स्वर था । तीसरी बात यह कि इन पत्रों के सम्पादक भली-भांति जानते थे कि अपने उद्देश्य की सिद्धि देशी भाषाओं के माध्यम से ही कर सकते हैं । इसलिए कुछ पत्र तो दो-तीन भाषाओं में प्रकाशित हुए, जैसे समाचार सुधावर्षण ° हिन्दी और बंगला दोनों में प्रकाशित होता था । आगे हम देखेंगे कि हिन्दी पत्रकारिता की स्वस्थ परम्परा का विकास किस प्रकार हुआ । °विशाल भारत ° इस परम्परा से कैसे जुड़ा ?

सन् 1857 ई० के बाद की पत्रकारिता में परिवर्तित स्वर सुनाई पड़ता है । इस दौर में हिन्दी पत्रकारिता में ये प्रवृत्तियां दिखलाई पड़ती हैं - ब्रिटिश शोषण के खिलाफ रोष , जनता में ज्ञान के प्रचार -प्रसार का आग्रह, राजनीतिक प्रश्नों के प्रति जागरुकता और देशभक्ति का प्रबल आग्रह आदि । भारतेन्दु और उनके बाद की हिन्दी पत्रकारिता में इन प्रवृत्तियों का विकास हुआ । इस संदर्भ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रकाशित और सम्पादित °कवि-वचन सुधा ° जिसका प्रकाशन सन् 1868 ई० में प्रारंभ हुआ ।[2] को देखा जा सकता है ।

1- कृष्ण बिहारी मिश्र- हिन्दी पत्रकारिता- पृष्ठ- 47-48, संस्करण : 1958

2- --- वही ---- पृष्ठ- 92 , संस्करण : 1958

यह पत्रिका पहले मासिक थी, बाद में पाक्षिक बन गई । इस पत्र के प्रारंभिक अंकों में चन्दबरदायी, कबीर, देव, बिहारी, दीनदयाल गिरि की रचनाएं प्रकाशित हुई थीं ।[1] इसके पहले अंक में यूरोपीय के प्रति भारतवर्षीय के प्रश्न ° शीर्षक से प्रश्नावली छपी थी । दूसरे अंक में °कालिराज की सभा ° शीर्षक निबंध प्रकाशित हुआ था जिसमें अंग्रेजों की पोल खिल्ली उड़ाई गई थी । इसमें हिन्दुस्तानी और अंग्रेजों के बीच मद्य और मदक का संबंध बताया गया था ।[2]

पाक्षिक पत्रिका °भारत मित्र ° जो 17 मई सन् 1878 ई० से निकलनी शुरु हुई और जिसके सम्पादक छोटूलाल मित्र और दुर्गाप्रसाद मिश्र थे अपनी राजनैतिक उग्रता के लिए प्रसिद्ध थी ।[3] 14 अगस्त सन् 1878 ई० को जो वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट जारी हुआ था, जिसमें पत्रों के स्वतंत्र अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाया गया था, °भारत मित्र ° ने इस एक्ट पर तीखा प्रहार किया ।[4] °साप्ताहिक पत्र °सार सुधा निधि °, जिसका प्रकाशन 1879 में सदानन्द मिश्र और दुर्गाशंकर मिश्र के सहयोग से हुआ, का स्वर आर्थिक शोषण के खिलाफ बहुत तीव्र था । इसके 38वें अंक में एक लेख प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था--°काबुल का व्यय कौन देगा ? इसमें कहा गया -°काबुल का युद्ध भारतवर्ष के विशेष हित के लिए न होकर इंग्लैण्ड के हित के लिए हुआ था ।[5]

इस युग की हिन्दी पत्रकारिता का राष्ट्रीय स्वर तीव्रतर होता गया किन्तु इसी युग में सुधारवादी प्रवृत्तियों के प्रति विरोध का स्वर भी सुनाई पड़ता है । साप्ताहिक पत्र °हिन्दी बंगवासी ° जिसका प्रकाशन 1890 में प्रारंभ हुआ, जो बाद में दैनिक हुआ, के 25 सितम्बर 1933 के अंक में भवानीपन्त शास्त्री का लेख °सुधारवादियों का दुराग्रह तथा शुद्ध मार्ग्यों की चेतावनी °[6]

1- कृष्ण बिहारी मिश्र : हिन्दी पत्रकारिता, पृष्ठ-92, संस्करण : 1958

2- --- वही --- पृष्ठ- 98-99

4- --- वही --- पृष्ठ- ~~133~~ 98-99

5- --- वही --- पृष्ठ-133

6- --- वही --- पृष्ठ-213

20 प्रकाशित हुआ । इस लेख में सुधारवादियों का विरोध किया गया और कट्टर सनातनधर्मियों की नीति का समर्थन किया गया । सुधारवादियों का विरोध करने के पीछे इनकी उग्र राष्ट्र-भक्ति ही काम कर रही थी, वे सब कुछ को अंग्रेजों के खिलाफ ही देखना चाहते थे ।

समग्रत: भारतेन्दु युग की पत्रकारिता का मूल स्वर राष्ट्रीय था । राष्ट्रीयता की आड़ में ही भारतेन्दु ने ब्रिटिश शासन की प्रशंसा के भी गीत गाए, परन्तु भारतेन्दु का मुख्य स्वर देश-भक्ति का था ।

इंडियन प्रेस के अध्यक्ष चिन्तामणि घोष ने 1900 ई० में मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन प्रारंभ किया । इसके सम्पादक मण्डल में राधाकृष्णदास कार्तिक प्रसाद खत्री, जगन्नाथ दास रत्नाकर, किशोरीलाल गोस्वामी और श्यामसुन्दर दास थे ।[1] 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी इसके सम्पादक बने । यह पत्रिका सामाजिक और सांस्कृतिक सुधार का प्रतिनिधित्व करती थी । अतीत कालीन भारत के उज्ज्वल पक्षों से भारतीय जनता को अवगत कराना इसका उद्देश्य था । इसके साथ महंगाई और मालगुजारी के खिलाफ भी इस पत्रिका ने आवाज उठाई, जिसका विस्तृत वर्णन डा० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में किया है । द्विवेदी युग में भी अनेक उल्लेखनीय पत्रिकाएं निकलीं । 1902 में मदनमोहन मालवीय ने प्रयाग से अभ्युदय नामक साप्ताहिक का प्रकाशन प्रारंभ किया । उत्तर प्रदेश के राजनैतिक जागरण में इस पत्रिका का प्रमुख योगदान है । 1909 में प्रयाग से ही साप्ताहिक पत्रिका 'कर्मयोगी' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ । 1913 में कानपुर से गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया । यह पत्र किसान आन्दोलन तथा अनेक राजनीतिक आन्दोलनों का प्रबल समर्थक था ।[2]

1- सं० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, पृ०-147 भाग : त्रयोदश संस्करण: सं.2029, 1972ई.

2- --- वही --- पृष्ठ- 147-50 संस्करण :

TH-640.

21 इस युग की पत्रकारिता पर 19 वीं शती के सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन का स्पष्ट प्रभाव भी था । जिस तरह 19 वीं शती के अनेक सामाजिक सुधार आन्दोलनों को राजनैतिक जागरण से अलग नहीं किया जा सकता उसी तरह इस युग की पत्रिकाओं भी प्रायः सुधारवादी विचारधारा से प्रभावित होकर प्रकाशित होते थे, जो राजनैतिक आन्दोलन से सीधे-सीधे जुड़े हुए थे । "सरस्वती" इसकी मिसाल है ।

"विशाल भारत" का प्रकाशन जनवरी 1928 से प्रारंभ हुआ । इसके पहले हिन्दी पत्रकारिता की जो स्वस्थ परंपरा निर्मित हुई थी, इसी की देन है । "विशाल भारत" के पहले अंक[2] में कहा गया कि भारत में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सभी धर्मों के लोग रहते हैं । सभी को एक दूसरे की संस्कृति का सम्मान करना है । प्राचीन विशाल भारत (जावा, सुमात्रा इत्यादि) के विषय में जनता को ज्ञान देना भी "विशाल भारत" का एक उद्देश्य था । इस लघु शोध प्रबंध के दूसरे और तीसरे अध्यायों में इस पर विस्तार से चर्चा होगी । पहले अंक के सम्पादकीय[3] में यह कहा गया कि भारतवर्ष का महत्व उसकी समुन्नत संस्कृति और सभ्यता के कारण है । इसी अंक में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता भी प्रकाशित हुई है जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार है :---

भगवन ! मेरा देश जगाना ।
स्वतंत्रता के उसी स्वर्ग में जहां क्लेश नहीं पाना ।।[4]

अतीतकालीन भारत की समुन्नत संस्कृति से जनता को परिचित कराते हुए ब्रिटिश शासन के खिलाफ चल रहे राजनैतिक आन्दोलन की धार को तेज करना "विशाल भारत" का उद्देश्य था । यह पत्रिका हिन्दी पत्रकारिता की अपनी पूर्ववर्ती परम्परा की नींव पर खड़ी हुई थी ।

2- वि० भा० जनवरी 1928

3- -- वही -- पृष्ठ- 137-44

4- -- वही -- जनवरी, 1928, पृष्ठ- 138

Th-640
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY LIBRARY
DISS
4(P,152)4a V,44;51'N47←N28
152M1

द्वितीय अध्याय

19 वीं शती का सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन और 'विशाल भारत'

(क) सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि

(ख) विशाल भारत पर इस आन्दोलन का प्रभाव

19वीं शती के सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन

19वीं शती के धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन की दो धाराएं थीं, एक धारा उदारवादियों की थी जो भारत की प्राचीन परम्परा में पूर्ण परिवर्तन की मांग करते थे। राममोहन राय, महादेवगोविन्द रानाडे, केशवचन्द्र सेन इत्यादि इस धारा के अग्रणी नेता थे। दूसरी धारा उन की थी जो भारतीय परम्परा में थोड़ा बहुत हेर-फेर कर उसे फिर से प्रतिष्ठापित करना चाहते थे। शंकर चूड़ामणि, दयानन्द सरस्वती, बंकिम चन्द्र, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द इत्यादि इस के प्रमुख नेता थे।

पहली धारा का आविर्भाव पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में हुआ। राजा राम मोहनराय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की और मध्ययुगीन दकियानूसी विचारों के स्थान पर बुद्धिवाद की स्थापना की। ब्रह्म समाज के मानने वाले विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच होने वाले वाद-विवादों पर तर्कसंगत दृष्टि रखते थे। इन्होंने हिन्दू धर्म का विभिन्न धर्मों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया और यह स्थापना की कि तमाम त्रुटियों के बावजूद धर्म की आत्मा बुद्धिवाद और मानवतावाद में ही वास करती है।[1] ब्रह्म समाज का बहुत बड़ा योगदान भारतीय बुद्धिजीवियों के बीच वैचारिक एकता को स्थापित करने का रहा है। इस वैचारिक एकता का ही परिणाम था कि महादेवगोविन्द रानाडे जैसे समाज सुधारकों ने जाति-व्यवस्था, बाल-विवाह और पर्दाप्रथा के विरोध में अपनी आवाज़ बुलन्द की।

परन्तु इस धारा के विचारकों में भी गहरा मतभेद था। रानाडे हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार में ही भारत का विकास देखते थे।[2] केशवचन्द्र सेन का नव-

---

1. जे.टी.एफ. जोन्स ने 'रिलीजन्स एंड रिफार्म इन ब्रिटिश इंडिया' लेख में इसकी विस्तृत व्याख्या की है। यह लेख 'ए कल्चरल हिस्ट्री आफ इंडिया,' सं० ए.एल.बाशम, क्लैरेंडो, प्रेस, 1975 में संकलित है।
2. ताराचन्द, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास के आधार पर

विधान धर्म के रहस्यवादी पहलुओं और ईसाई और हिन्दू आचार-विचार के समन्वय की बात करता था ।

दूसरी धारा का आविर्भाव ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज के बढ़ते हुए प्रभाव और पाश्चात्य श्रेष्ठता की प्रतिक्रिया में हुआ । इसके नेताओं ने पुनरुत्थान आन्दोलन चलाया । 1870 में बंगाल और 1880 में महाराष्ट्र में यह आन्दोलन शुरु हुआ । इस आन्दोलन के मूल में नव हिन्दू धर्म यानी हिन्दू धर्म को फिर से जीवित करने की अवधारणा काम कर रही थी ।

बंगाल में चल रहे पुनरुत्थानवादी आन्दोलन के अग्रदूत बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय थे । उनका मानना था कि भारत की समस्याओं का समाधान हिन्दू धर्म के पुनरुज्जीवन में ही है । उनका विश्वास था कि सामाजिक रीतियों पर हमला करने से कोई लाभ नहीं हो सकता क्योंकि समाज धर्म शास्त्र के मुकाबले इन रीतियों से ज्यादा बंधा हुआ है । आगे चलकर रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द इस आन्दोलन से जुड़े जिन्होंने सब प्रकार की पूजाओं में ईश्वर की पूजा, सब प्रकार की धार्मिक साधना में ईश्वर के लिए खोज को महत्व दिया ।[1]

इस आन्दोलन के नेता भारत के उज्ज्वल अतीत का यशोगान करते थे । महाराष्ट्र में पुनरुज्जीवनवाद के प्रमुख श्री विष्णुशास्त्री चिपलुणकर ने अपनी पत्रिका निबंध माला ' के एक लेख में लिखा कि अंग्रेजों ने हमारी स्वतंत्रता का अपहरण किया । स्वतंत्रता के अपहरण का अर्थ है - जो कुछ भी हम मूल्यवान समझते हैं, उन सब का अपहरण, हमारे प्राचीन राज्य, हमारा ऐश्वर्य, हमारी विद्या, इन सब का ह्रास हुआ है । 1875 में बम्बई में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य समाज ऐसी अतीत का यशोगान करने की मानसिकता का परिणाम था । वेदों की अपौरुषेयता को दयानन्द जी ने प्रमाणित करने का प्रयास किया । इस धारा की एक और उपधारा सामने आई, जो सब तरह के सुधारों के विरुद्ध थी । पं० शकधर तर्क चूड़ामणि इस धारा के प्रमुख नेता थे । इस धारा के मानने वाले सामाजिक रीति-रिवाजों और त्यौहारों की प्रामाणिकता वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर सिद्ध करते थे । किंतु, इस धारा के विचारों का प्रचार-प्रसार जनता के बीच अधिक नहीं हुआ ।

---

1. ताराचन्द, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, पृ० के आधार पर
पृ० 365-66

3

प्रसार जनता के बीच अधिक नहीं हुआ ।

उदारवादी और पुरातनपंथी विचारक सारे मतभेदों के बावजूद कुछ मुद्दों पर एक थे । जैसे, दोनों धाराओं के नेता मध्ययुगीन अनुष्ठानों के विरुद्ध थे । चूड़ामणि जी एक अपवाद के रूप में आए जरूर किन्तु उनके विचारों का ज्यादा प्रचार-प्रसार जनता के बीच नहीं हुआ । दोनों धाराओं के विचारकों की मूल चिन्ता आधुनिक परिस्थितियों में भारतीय समाज को सही दिशा देने की थी । राममोहन राय ने पाश्चात्य सभ्यता पर बल दिया तो स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदों की ओर लौटो का नारा दिया । यहां तक कि दोनों धाराओं के विचारक उस युग की मूल धारा से अलग नहीं थे । उन्होंने जाति व्यवस्था के खिलाफ आवाज़ उठाई । ये लोग सम्प्रदायवाद के खिलाफ थे । देश की जनता के बीच सामाजिक सुधारकों ने काम किया और तत्कालीन समस्याओं को राष्ट्रीय स्तर पर देखने का प्रयास किया । इसलिए 19वीं शती के धार्मिक सुधार आन्दोलनों की सामाजिक भूमिका रही है ।[1] इन्हीं आन्दोलनों ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ राष्ट्रीय एकता की पृष्ठभूमि तैयार की । इन आन्दोलनों का परिणाम कांग्रेस पार्टी का उदय था जिसके प्रथम अधिवेशन में नेशनल सोशल कांफ्रेंस करने का निर्णय लिया गया ।[2] यह निर्णय बाल विवाह कानून पर हुई गरमागरम बहस के बाद लिया गया था । बाल गंगाधर तिलक इस एक्ट के सख्त विरोधी थे ।[3]

1880 के बाद सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन धीरे-धीरे राजनैतिक आन्दोलन के समीप आने लगा । बाल गंगाधर तिलक ने गणपति समारोह और शिवाजी समारोह की प्रथा चलाकर राष्ट्रीयता का मैरवनाद किया । बंकिम चन्द्र ने धर्म को सामाजिक और राजनैतिक पुनरुज्जीवन का औतार माना । कांग्रेस के निर्माण के बाद धीरे - धीरे सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन राजनैतिक आन्दोलन में विलीन होने लगा ।

---

1. ताराचन्द - भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, पृ० 361
2. जे.टी.एफ. जोर्डन का लेख ' रिलीजन्स एंड सोशल रिफार्म इन ब्रिटिश इंडिया ' जी ए. एल. बाशम की पुस्तक ए कल्चरल हिस्ट्री आफ इंडिया में संकलित है ।
3. -- वही --

' विशाल भारत ' पर समाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन का प्रभाव राजनैतिक आन्दोलन की तेज करने के रूप में पड़ा । उस का ऐसा मानना है कि सामाजिक और धार्मिक सुधार को ऐसा तेज हथियार बनाया जाय जिसकी धार पर राजनैतिक आन्दोलन आगे बढ़ता रहे ।[1] ' स्वराज्य या समाज-सुधार ; पहले कौन ?[2] लेख में हरिकृष्ण अग्रवाल ने यह निष्कर्ष दिया है कि स्वराज्य और समाज-सुधार दोनों अलग - अलग नहीं हैं बल्कि स्वराज्य - प्राप्ति के बाद ही सामाजिक सुधार को एक नई दिशा मिल सकती है । यह समझ पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन की थी । 1880 के बाद भारतीय राजनीति में तिलक का आना एक अभूतपूर्व घटना है । तिलक ने शिवाजी समारोह और गणपति समारोह के माध्यम से राजनैतिक आन्दोलन को जनता तक पहुंचाने का प्रयास किया । विशाल भारत का भी मूल उद्देश्य राजनैतिक आन्दोलन से जुड़ा हुआ था ।

इसी संदर्भ में पत्रिका की बृहत्तर भारत संबंधी परिकल्पना का महत्व है । इसके अनुसार भारतीय संस्कृति जो एशिया के दूसरे देशों में धर्म के माध्यम से फैली, उसका वहां की जनता के बीच प्रचार-प्रसार होना चाहिए ताकि वहां की जनता को अपने देश की स्वरूप संस्कृति, जो आज विदेशी संस्कृति से आक्रान्त हो रही है, का ज्ञान हो जिस से कि वे यहां के राजनैतिक आन्दोलन से अपने को जोड़े । इसलिए विशाल भारत के प्रथम अंक[2] में जो उद्देश्य प्रकाशित हुए, उनमें एक उद्देश्य प्राचीन विशाल भारत (जावा, सुमात्रा) के विषय में जनता में ज्ञान फैलाने और आधुनिक विशाल भारत (फिजी, मारिशस) का मातृभूमि के साथ संबंध को सुदृढ़ करना भी है । इसलिए इसी अंक में सम्पादक (बनारसीदास चतुर्वेदी) ने बृहत्तर भारतीय संस्कृति के आयोजन का भी प्रस्ताव रखा है ।

बृहत्तर भारतीय संस्कृति की परिकल्पना का संबंध यहां के राजनैतिक आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने से है । ' विशाल भारत ' के मन में यह परिकल्पना क्यों उपजी, इसके कई कारण थे ।

---

1. वि. भा., दिसम्बर 1928, पृ0 761 - 64
2. वि.भा. वही , जनवरी, 1928, पृ0 138

पहला कारण था कि विश्व में बहुत तेजी से सांस्कृतिक प्रचार का काम चल रहा था । प्रमाण के लिए डा० तारकनाथ दास का लेख ' अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में सांस्कृतिक प्रचार का मूल्य '[1] है जिसमें लेखक ने ' टाइम्स ' तथा फ्रांस के पत्रों में प्रकाशित जर्मनी के परराष्ट्र सचिव डा० स्ट्रेसमैन की खबर का उद्धरण दिया है जिसके अनुसार उन्होंने जर्मन संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए सरकार से 21,000000 मार्क की मांग की । इसलिए लेखक ने भारतीय अध्यापकों से अनुरोध किया कि वे दुनियां के दूसरे देशों में जाकर भारतीय संस्कृति का प्रचार - प्रसार करें ।

दूसरा कारण था कि भारत में जो संस्कृति पनप रही थी, वह गुलामी से उपजी संस्कृति थी । ब्रिटिश शासक अपने राजनैतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ बताते थे और भारतीय संस्कृति को निम्न । अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए उन्होंने यहां की शिक्षा -पद्धति पर चोट की । राम ~~त्रिपाठी~~ चतुर्वेदी , एम.ए. ने 'गदर से पूर्व देशी प्रारंभिक शिक्षा'[2] में लिखा है कि अंग्रेजों के आने के पहले भारतीय शिक्षा प्रणाली देश की धार्मिक एवं राष्ट्रीय परम्परा पर अवलम्बित थी । उनके आने के बाद भारतीय शिक्षा की जो दुर्गति हुई, उसका कहना ही क्या है । इसी प्रकार मैकडोनल्ड साहब ने यह कहा कि भारतीय साहित्य का सबसे दुर्बल पक्ष इतिहास रहा है । कविराज रत्नाकर ने ' भारत के प्राणाचार्य '[3] निबंध में मैकडोनल्ड की इस उक्ति का खंडन किया है । इस तरह बहुं दिशाओं से ब्रिटिश सरकार अपने राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर प्रहार कर रही है । कभी शिक्षा के दरवाजे से यह प्रहार होता था तो कभी इतिहास के दरवाजे से ।

---

1. वि. भा. , जनवरी 1960 , पृ० 85 - 90
2. वही , मार्च, 1944, पृ० 157-60
3. वही , मार्च, 1931, पृ०

6

यहां तक कि ब्रिटिश सरकार के अधीन इतिहास-लेखन का जो कार्य चला, जिसका वर्णन आगे किया गया है, उसमें भी भारत के अतीत को बोझ बताते हुए सरकारी इतिहासकारों ने ब्रिटिश शासन को यहां की संस्कृति और सभ्यता को स्वस्थ दिशा देने का सेहरा प्रदान किया । इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ब्रिटिश सरकार अपने को उचित करार दे रही थी ताकि वह दुनिया की निगाहों में भारतीय उपनिवेश पर शासन करने की न्यायसंगतता प्रमाणित कर सके । इसलिए ' विशाल भारत ' के लिए अपने देश की संस्कृति के गौरवशाली पक्षों से जनता को भली-भांति अवगत कराना अनिवार्य था जिससे कि यहां के राष्ट्रीय आन्दोलन की जमीन मजबूत हो सके ।

' विशाल भारत ' ने भारत की अतीतकालीन संस्कृति को किस रूप में रखा, यह विचारणीय प्रश्न है । यह पत्रिका के ' स्प्राच ' से जुड़ा हुआ है । इसे 19 वीं शती के आन्दोलन की पृष्ठ भूमि में ही देखना बेहतर होगा । पहले विचार किया जा चुका है कि 19वीं शती के आन्दोलन की दो धाराएं थीं, एक का नेतृत्व दयानन्द सरस्वती, बाल गंगाधर तिलक और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कर रहे थे तथा दूसरी धारा का नेतृत्व राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, महागोविन्द रानाडे इत्यादि कर रहे थे । पहली धारा के नेताओं ने भारत के अतीत को इतना बढ़ा-चढ़ा कर भारतीय जनता के सामने रखा जिससे कि जनता अतीत की ओर ही आशा भरी दृष्टि से देखे, जैसे, दयानन्द सरस्वती ने वैदिक युग की ओर लौटने की बात कही । महर्षि अरविन्द ने हिन्दू राष्ट्रवाद का जिक्र किया । दरअसल में ये लोग अतिवादी थे । दूसरी धारा के नेताओं ने उदारवादी दृष्टि से भारत के अतीत का मूल्यांकन किया ।

' विशाल भारत ' का संबंध दूसरी धारा से है । उसने शकधर तर्क चूड़ामणि की तरह ब्राह्मणवादी व्यवस्था और अरविन्द की तरह हिन्दू राष्ट्र की बात नहीं की है बल्कि ऐसे मौकों पर इसने इसकी आलोचना की है । पं०

7

यज्ञनारायण जी उपाध्याय के लेख ' दीक्षा का आयोजन '[1] के उस अंश की कटु आलोचना की गई है जिसमें उन्होंने पच्चीस करोड़ हिन्दुओं के बीच दीक्षा का कार्य चलाने का प्रस्ताव रखा है और भारतवर्ष में रहने वाले ब्राह्मणों से लेकर चाण्डालों तक को सूर्योदय से पहले शौचादि से निवृत्त हो अथवा हाथ-पैर आदि धोकर एक लोटा शुद्ध जल हाथ में लेकर ' नमः शिवाय ' इस मंत्र से सूर्यादि परमात्माओं का ध्यान करने को कहा है। उपाध्याय जी के लेख के विरोध में चतुर्वेदी जी ने सम्पादकीय विचार में ' पट्टी साफ कीजिए '[2] शीर्षक से एक टिप्पणी लिख मारी। इस टिप्पणी में उन्होंने उपाध्याय जी के लेख की बहुत आलोचना की है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ' विशाल भारत ' का अतीत के प्रति अतिवादी या भाववादी नजरिया नहीं है।

जहां सम्पादक की भाववादी दृष्टि रही है, उसका भी कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे नेताओं का प्रभाव नहीं है बल्कि उसका कारण कांग्रेस के अन्तर्विरोध का प्रभाव है। जैसे, एक जगह ' हिन्दुओं की सहिष्णुता '[3] लेख में प्रो० कृष्ण कुमार लिखते हैं - ' इस्लाम ने हिन्दुस्तान में आक्रमणकारी की हैसियत से प्रवेश किया था। इस बात में जरा भी आश्चर्य नहीं होता, अगर हिन्दू मुसलमानों के साथ सहनशीलता का बर्ताव नहीं करते ; परन्तु हिन्दू की स्वाभाविक सहनशीलता ने इस्लाम को सहिष्णुता प्रदान की।[2]"

ध्यातव्य है कि ' विशाल भारत ' ने उपरोक्त विचार 1939 में व्यक्त किए हैं। उस समय साम्प्रदायिकता की लहर तेज ही चली थी जो कांग्रेस के अन्तर्विरोध के कारण तेज हुई। पत्रिका में यह ' अन्तर्विरोध 1928 से 31-32 के बीच नहीं आया। क्योंकि 1932 के बाद भारत की राजनीति में विचारधारात्मक संघर्ष तीव्र होने लगते हैं। प्रो. कृष्णकुमार के उपरोक्त विचार को उस समय की

---

1. यह लेख मार्च, 1936 के वि. भा. में प्रकाशित हुआ था, जिसके पृष्ठ नहीं थे।
2. वि. भा., अप्रैल 1936 , पृ० 507-12
3. वही , जून 1939, पृ० 571-72

8

विचारधारात्मक संघर्ष की पृष्ठभूमि में देखना चाहिए ।

' विशाल भारत ' की भारतीय जन-मानस के बीच भारतीय संस्कृति का प्रेरणादायक स्वरूप निर्मित करना था । इसके लिए नायक की जरूरत थी । एक ऐसे नायक का चरित्र उनके बीच उभरे जो भारतीय जन-मानस को राजनैतिक आन्दोलनों में हिस्सा लेने के लिए प्रेरित कर सके । इसलिए इसने दो नायकों का चुनाव किया, एक नायक विदेशी शक्तियों से लोहा लेने वाला और दूसरा नायक संसार में प्रेम और अहिंसा का संदेश देने वाला, यानी शिवाजी और गौतम बुद्ध ।

पहले नायक हैं, शिवाजी जिन पर सर यदुनाथ सरकार ने कई लेख लिखे हैं । यहां हमें देखना है कि ' विशाल भारत ' ने इस नायक के किन - किन पक्षों को प्रदर्शित किया है । ' शिवाजी का प्रादुर्भाव ' [1] में सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं - ' उन्होंने बलहीन, अप्रसिद्ध और बिखरे हुए लोगों को इकट्ठा करके उन्हें शक्ति प्रदान की तथा उन्हें राष्ट्रसंघ में गूंथकर हिन्दुओं के इतिहास में एक नई सृष्टि की रचना की ।' [2]

वे आगे लिखते हैं - ' देश की राजनीतिक अवस्था के कारण खेतिहरों से बहुत से बलवान चतुर और तेज पुरुषों ने हल छोड़कर तलवार पकड़ी और फौजी पेशा अख्तियार कर जमीन्दार और राजा हो गए । ' [3] यदुनाथ सरकार के अनुसार शिवा जी का मुख्य उद्देश्य धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करना था । इसके प्रमाण में उनका कहना है कि 1645 ई० में शिवाजी ने नरस प्रभु को ' हिन्दवी स्वराज्य ' के बारे में लिखा अर्थात शिवाजी हिन्दुओं का स्वराज्य चाहते थे और हिन्दू धर्म को फलते - फूलते देखना चाहते थे ।

---

1. वि. भा., जुलाई 1930, पृ० 49-58
2. वही , ,, पृ०
3. वही , ,, पृ० 49

यदुनाथ सरकार ने शिवाजी के उन पक्षों पर प्रकाश डाला है जिनके कारण वे विदेशी शक्तियों से लोहा लेने में सक्षम रहे । उस समय विदेशी शक्ति मुस्लिम जाति के रूप भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करना चाह रही थी । इस शक्ति का सामना करने के लिए उन्होंने बिखरी हुई जनता को संगठित करने ~~के लिए~~ का ~~उन्होंने~~ प्रयास किया । ' विशाल भारत ' का ~~शिवा जी के माध्यम से यह~~ कहना ~~चाहता~~ है कि हर विदेशी शक्ति से सामना करने के लिए एक संगठित शक्ति का होना आवश्यक है जो जनता की शक्ति होगी ।

जिस तरह शिवा जी ने तन-मन-धन से विदेशी शक्ति का सामना किया, उसी प्रकार आज ब्रिटिश शक्ति से भारतीय जनता को सामना करने की ज़रूरत है । अपने दूसरे लेख ' शिवा जी का राज्याभिषेक '[1] में सर यदुनाथ सरकार ने शिवाजी के राज्याभिषेक समारोह का विस्तार से वर्णन किया है । शिवाजी के राज्याभिषेक में जातिगत ~~जाति-गत~~ कठिनाई आई थी । वे भोंसले वंश के थे । उन दिनों इस वंश की गणना शूद्र में होती थी । राज्याभिषेक के नियमानुसार राज्याभिषेक किसी क्षत्रिय का ही हो सकता था । शिवाजी ने मुंशी बालाजी आवजी (जो मराठा जाति के सबसे बड़े पंडित थे) और काशी निवासी विशेश्वर भट्ट को (जो गंगा भट्ट के नाम से जाने जाते थे) बहुत सा रुपया देकर अपने हाथ किया । लेखक ने शिवाजी की इस कूटनीति की प्रशंसा की है । उनके अनुसार यह मक्कारी या जालसाजी नहीं है ।

शिवाजी ने अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए हर प्रकार के हथियारों का इस्तेमाल ~~करने के लिए हर प्रकार से~~ किया । ' विशाल भारत ' का भी अप्रत्यक्षतः कहना है कि उद्देश्य का महत्व होना चाहिए, उसे प्राप्त करने के उपायों पर ध्यान नहीं होनी चाहिए । जो उपाय उस समय श्रेयस्कर हों, उनका उपयोग अपेक्षित है ।

यहां एक प्रश्न उठता है कि जबकि ब्रिटिश शक्तियों का सामना हिन्दू और मुसलमान दोनों एक जुट होकर कर रहे थे, तब शिवाजी के महत्व को आंकना क्या राष्ट्रीय आन्दोलन की जड़ को कमज़ोर बनाना नहीं है ? ध्यातव्य है कि शिवाजी का मूल्यांकन उनके समय की पृष्ठभूमि में करना होगा । उस पृष्ठभूमि के मुताबिक मुसलमान विदेशी थे । आज स्थिति बदल चुकी है । इसके अनुसार

---

1. वि. भा. मार्च 1931 पृ0 373-79

10

विदेशी शक्ति कोई और है। ~~यह भी ध्यान देने योग्य है कि~~ विशाल भारत ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। उसने इस विवाद को स्पर्श तक नहीं किया है। इसलिए पत्रिका पर किसी तरह के साम्प्रदायिक होने का इल्ज़ाम नहीं लगाया जा सकता है। वह इससे बरी है।

'विशाल भारत' के दूसरे नायक हैं, गौतम बुद्ध और उनका बौद्ध धर्म। प्राचीन विशाल भारत के निर्माता भगवान गौतम बुद्ध[1] में प्रो० फणीन्द्रनाथ बसु एम. ए. लिखते हैं -

'उन्होंने अपने धर्म को किसी विशेष जाति या सम्प्रदाय के लिए सुरक्षित नहीं रखा, बल्कि बिना किसी प्रकार के भेदभाव के उसका द्वार सर्वसाधारण के लिए खोल दिया। इस विषय में उन्होंने हिन्दू धर्म का प्रतिवाद किया। वे लोगों को प्रेम और अहिंसा का संदेश देते हैं।[2] वे आगे लिखते हैं - 'विशाल भारत की बुनियाद भारतवर्ष के इतिहास का एक मनोरंजक अध्याय है। इसे हम एशिया के भिन्न भिन्न देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार की कथा भी कह सकते हैं। जैसे - जैसे बौद्ध धर्म भिन्न - भिन्न देशों में फैलता गया, वैसे वैसे प्राचीन विशाल भारत की नींव का मार्ग परिष्कृत होता गया।[3]

गौतम बुद्ध को प्राचीन विशाल भारत का नायक घोषित करने के कारण थे। बुद्ध ने किसी विशेष सम्प्रदाय के लिए अपना धर्म नहीं चलाया, सर्वसाधारण के लिए बौद्ध धर्म का दरवाजा हमेशा खुला रहा। इसलिए भी लेखक प्रो० बसु की दृष्टि में बौद्ध धर्म का प्रचार एशिया के दूसरे देशों में हो सका और प्राचीन विशाल भारत की नींव मज़बूत हुई। इस तरह लेखक की दृष्टि में बौद्ध धर्म के महत्व के कारण सम्प्रदाय - विशेष से इसका मुक्त होना रहा है।

---

1. वि. भा., जनवरी, 1930, पृ० 1-6
2. वही पृ० 2
3. वही पृ० 2

11

इसलिए एशिया के दूसरे देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार - प्रसार विशाल भारत की नींव को मजबूत करेगा । आचार्य नरेन्द्र देव ने भी " बौद्ध धर्म का संक्षिप्त इतिहास "[1] में इसके महत्व का कारण किसी सम्प्रदाय - विशेष या जाति-विशेष से इसका सम्बन्धित होना बताया है ।

यहां संक्षेप में गौतम बुद्ध के वैचारिक अन्तर्विरोध का अध्ययन अपेक्षित है । बुद्ध ने मनुष्य और समाज को परिवर्तनशील कहा । ऐसा कर उन्होंने उस समय के उन धार्मिक प्रमुखों की जो पारलौकिक स्वरूप को पाने में ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते थे, चुनौती दी । बुद्ध के समय में वैदिक कर्मकाण्ड और पाठ पूजा की ओर से आस्था उठने से पहले शासक वर्ग की गंभीर चिन्ता हुई । इसलिए उन्होंने ब्रह्म ज्ञान तथा सामाजिक पुनर्जन्म के दर्शन को जन्म दिया ।[2] बुद्ध के क्षणवाद के सिद्धान्त को देखकर तत्कालीन समाज का शासक वर्ग भयभीत हुआ । परन्तु प्रति संधि और कर्म के सिद्धान्त ने उन्हें फिर निश्चिन्त कर दिया । बुद्ध का कहना था कि शरीर में एक तरह की एकता (उत्पत्ति-नष्ट - उत्पत्ति के रूप में) शरीरान्तर में भी जारी रहेगी । इस सिद्धान्त ने शासक वर्ग की चिन्ता को दूर किया और वे दुनिया के दूसरे देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार करने लगे ।

बुद्ध का अन्तर्विरोध समय - समय पर बुद्ध द्वारा की गई घोषणाओं में भी परिलक्षित हुआ है । उदाहरणार्थ कर्ज देने वाले उस समय सम्पत्ति न होने पर शरीर तक खरीद लेने का अधिकार रखते थे । इसलिए कितने ही कर्जदार कर्ज से त्राण पाने के लिए भिक्षु बन जाते थे । परन्तु जब महाजनों के विरोधी हो जाने का खतरा सामने आया तब बुद्ध ने घोषित किया - " ऋणी को प्रव्रज्या (= सन्यास) नहीं देनी चाहिए । " (महावग्ग, 913 ।4 ।8, राहुल सांकृत्यायन - विनयपिटक, पृ0 18)"[3] । इसी तरह जब दास भिक्षु बन रहे थे, तब शासक वर्ग चिन्तित हो उठा था और वैसी स्थिति में गौतम बुद्ध को घोषणा करनी पड़ी --

---

1. वि. मा., जून 1930, पृ0 764-69
2. राहुल सांकृत्यायन - दर्शन - दिग्दर्शन, पृ0 536, किताब महल, इलाहाबाद, 1944 ।
3. वही पृ0 541,

12

" भिक्षुओ ! दास को प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए ।"
(राहुल सांकृत्यायन, " विनय पिटक", पृ0 118)[1]
इसी प्रकार मगधराज बिम्बसार के सैनिक जो बुद्ध के अनुयायी थे, युद्ध में जाने की जगह भिक्षु बनने लगे तब बिंबसार ने बुद्ध से शिकायत की । तत्पश्चात बुद्ध ने घोषणा की - " भिक्षुओं ! राज्य सैनिकों को प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए " (विनय पिटक, पृ0 116-117)[2] ।

गौतम बुद्ध समाज की क्रूर स्थितियों से मुकाबला करना नहीं चाहते थे क्योंकि क्रूर स्थितियों की जड़ आर्थिक विषमता थी और आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए उस समय के शासकों को अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं बना सकते थे । ऐसा करने पर बौद्ध धर्म का प्रचार - पसार दुनिया के दूसरे देशों में नहीं हो सकता था । इसलिए बुद्ध ने समाज की तह में जाने की बजाय समाज के ऊपर - ऊपर चलना अच्छा समझा ।

जैसा कि प्रो0 फणीन्द्रनाथ बसु ने लिखा है कि बौद्ध धर्म का दरवाजा सर्वसाधारण के लिए खुला हुआ था , बुद्ध की उपरोक्त घोषणाओं से इसकी संदिग्धता सिद्ध हो सकती है । यह सच है कि बुद्ध ने जाति - प्रथा पर प्रहार किया लेकिन वह अपने अन्तर्विरोध से मुक्त नहीं हो सके जिसके कारणों पर पहले विचार हो चुका है । इसलिए सर्वसाधारण के लिए दरवाजा तबतक खुला हुआ था जब समाज के शासक वर्ग के हित से उनके हित का टकराव नहीं हो । टकराव होने पर बुद्ध ने शासक वर्ग का साथ दिया । दुनिया के दूसरे देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के कारणों पर भी पहले विचार हो चुका है ।

" विशाल भारत " ने बौद्ध धर्म के इस अन्तर्विरोध से आंख मूंद ली । ऐसा क्यों ? इसे धर्म के संदर्भ में पत्रिका के दृष्टिकोण के तहत देखा जाना चाहिए । रामकृष्ण शताब्दी के अवसर पर " वेदान्त केसरी " ने लाला

---

1. राहुल सांकृत्यायन, दर्शन - दिग्दर्शन, पृ0 541
2. वही पृ0 542

13

हरदयाल से एक लेख की मांग की । लाला हरदयाल ने Practical religion (व्यावहारिक धर्म) शीर्षक लेख भेजा जो उस पत्रिका के संयुक्तांक (फरवरी - मार्च, 1936) में प्रकाशित हुआ । ' विशाल भारत ' ने अपने सम्पादकीय विचार में ' असली धर्म '[1] शीर्षक से उस लेख के कुछ अंश प्रकाशित किए हैं ।

इसका एक अंश देखें : - '..... कोई धर्म इस लोक में मानव-समाज के लिए हितकारक नहीं है तो इस बात की संभावना नहीं है कि वह परलोक के लिए लाभदायक होगा, चाहे वह कैसा ही दावा और कितना ही दंभ क्यों न करे । ..... यदि वेदान्त साधारण आदमी की मदद नहीं करता, तो वह किसी काम का नहीं, चाहे जन्म - जन्मान्तर के बाद मुक्ति कैसे मिल सकती है, इस विषय पर इसकी शिक्षा कैसी ही क्यों न हो । पहले इसको तन्दुरुस्त, साधन - सम्पन्न, सुशिक्षित और कर्तव्यपरायण नागरिक बनाना चाहिए, ब्रह्म जिज्ञासा की बात पीछे जायगी ।'[2]

उपरोक्त विचार धर्म के पारलौकिक पक्ष का विरोध करता है । लेखक की दृष्टि में धर्म के सामाजिक पक्ष का महत्व है न कि पारलौकिक पक्ष का । शासक वर्ग इस पारलौकिक पक्ष को संबल बना कर समाज के साधारण लोगों का शोषण करता है ।

भीष्म आर्य ने ' धर्म के भविष्य '[3] में शासक वर्ग द्वारा धार्मिक शक्तियों के दुरुपयोग की चर्चा की है । लेखक के अनुसार ' गुलामों पर अधिकार जमाने के लिए पूंजीपति वर्ग पाशविक और धार्मिक शक्तियों का प्रयोग करता है । शोषित जातियों को शोषक वर्ग की अधीनता में बनाये रखने में राजकीय उपासना गृहों और धर्म का बहुत बड़ा हाथ रहा है ।'[4] परन्तु क्या ' विशाल भारत ' धर्म के खात्मे की बात करता है ? ' समाजवाद और

---

1. वि. भा. का राष्ट्रीय अंक, अप्रैल, 1936, पृ0 510-11
2. वही पृ0 511
3. वि. भा., सितम्बर 1935, पृ0 235-37
4. वही पृ0 296

धर्म[1] " लेख में कि. कु. सिन्हा, एम.ए. की लेखनी के इस विचार से आपत्ति है की धर्म एक विशेष व्यवस्था की उपज है। वे लिखते हैं :- " पर सभ्यता के विकास के साथ जहां एक ओर प्राकृतिक शक्ति का प्रभाव घटता गया, वहीं दूसरी ओर जटिल और जटिलतर होने वाली सामाजिक शक्तियाँ उनका स्थान ग्रहण करती गईं। मनुष्य प्रकृति के रहस्यों को समझने में सफल होता गया, परन्तु दिन-दिन जटिल होने वाली सामाजिक शक्तियां उसके लिए नया रहस्य उत्पन्न करती गईं। सभ्यता के वर्तमान सोपान पर धर्म का आधार इन्हीं सामाजिक अथवा ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की गूढ़ता है।[2] इसी प्रकार ललित वरण गोस्वामी " धर्म और समाजवाद "[3] में धर्म को मानव अन्तर की उपज की संज्ञा देते हुए उसे समाजवाद की ही तरह मानव के पाशविक तत्वों को दबाने का अस्त्र मानते हैं। इसलिए 'विशाल भारत' साम्प्रदायिकता को खत्म करने में साम्यवाद की आवश्यक भूमिका को स्वीकार करता है, धर्म के अस्तित्व को नष्ट करने के सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए। पत्रिका के सम्पादकीय विचार[4] में " साम्प्रदायिकता को खत्म करने में साम्यवाद की भूमिका " शीर्षक से टिप्पणी प्रकाशित हुई थी।

ठीक दूसरी तरफ धर्म के मामले में पत्रिका की नीति समन्वयवाद की रही है। विविध धर्मों के सामाजिक पक्षों पर इसने बल दिया है। इसलिए पत्रिका में " मंगलमय महावीर "[5] (ले. टी. एल. वास्वानी), " हजरत मुहम्मद और उनकी शिक्षाएं "[6] (ले. मंगलस्वरूप वर्मा) जैसे लेख प्रकाशित होते रहे।

---

1. वि. भा., दिसम्बर 1938, पृ0 614-18
2. वही पृ0 615
3. वि. भा., अगस्त, 1939, पृ0 153-57
4. वि. भा., मार्च 1933, पृ0 437
5. वही 1930, पृ0 336 - 40
6. वि. भा., जून 1930, पृ0 33-42

15

सारांश यह है कि यह मानते हुए भी कि धर्म का पूंजीपति वर्ग अपने हित के लिए उपयोग करता है, 'विशाल भारत' को धर्म के अस्तित्व के नष्ट होने पर गहरी आपत्ति है। बल्कि अस्तित्व-नष्ट होने की बात उठने पर जब उठी तब 'विशाल भारत' ने इसका विरोध किया। साम्यवाद धर्म की वर्ग-भूमिका को स्वीकार करते हुए उसने समाज के लिए अफीम मानता है। पत्रिका ने ऐसे नाजुक क्षण में धर्म और साम्यवाद के द्वन्द्व से अलग रखते हुए बीच का रास्ता अपनाया है ताकि राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता पर चोट न पहुंचे।

बौद्ध धर्म के अन्तर्विरोध से सांस फूंकने का कारण राष्ट्रीय आन्दोलन ही था। उसे इस बात का भय था कि भारतीय जनता की फूट से ब्रिटिश शासन लाभ उठायेंगे और राष्ट्रीय आन्दोलन कमजोर पड़ जाएगा। इसलिए 'विशाल भारत' ने भारत के पूंजीपति वर्ग और जनसाधारण का भेद-भाव न कर एक स्वर में कहा कि धर्म का मर्म मानव-समाज के कल्याण में है।

19वीं शती के सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन तथा 'विशाल भारत' की भूमिका पर पिछले पृष्ठों में विचार किया गया है परन्तु यह समस्त विचार अधूरे ही रह जायेंगे, अगर 'विशाल भारत' द्वारा उठाए गए राष्ट्रीय इतिहास-लेखन की आवश्यकता पर विस्तृत रूप से विचार नहीं किया गया। 'विशाल भारत' ने जिस राष्ट्रीय इतिहास लेखन की बात उठाई, उस पर भी 19वीं शती के सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन का प्रभाव परिलक्षित हुआ है।

इतिहास-लेखन के बारे में पत्रिका का क्या दृष्टिकोण रहा है और किन परिस्थितियों में यह दृष्टिकोण निर्मित हुआ, इसपर यहां पहले विचार कर लेना होगा।

'विशाल भारत' की दृष्टि में इतिहास-लेखन की आवश्यकता है। उसका संकेत विशेष प्रकार के राष्ट्रीय इतिहास-लेखन की ओर है। पत्रिका

के सम्पादकीय विचार[1] में नागपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ इतिहास परिषद के अधिवेशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। इस रिपोर्ट में अधिवेशन के अध्यक्ष जयचन्द्र विद्यालंकार के भाषण के अंश छपे हैं। अपने भाषण में इतिहास की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्होंने कहा - " इतिहास राष्ट्र का आत्मपर्यवेक्षण, आत्मानुचिन्तन, आत्मस्मरण और आत्मानुध्ययन है ; उसी के द्वारा राष्ट्र को अपने स्वरूप की पहचान - आत्मानुभूति होती है। यह राष्ट्र-प्राणी के जीवन की आवश्यक और अनिवार्य प्रक्रिया है, जिस प्रक्रिया का मन्द पड़ जाना या बन्द हो जाना राष्ट्र की मूर्च्छा या मृत्यु का लक्षण है।"[2] जयचन्द्र विद्यालंकार जी पुणे के नेशनल कालेज में इतिहास के प्राध्यापक थे। वे वहां क्रांतिकारियों को इतिहास पढ़ाते थे। राष्ट्रीय - आन्दोलन में वे सक्रिय हिस्सा लेते रहे। उन्होंने इतिहास की भूमिका का अध्ययन राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में किया है।

राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने की जरूरत क्यों पड़ी ? इसके उत्तर के लिए हमें ब्रिटिश सरकार के अधीन ही रहे भारतीय इतिहास लेखन पर एक दृष्टि डालनी होगी। 1784 ई० में बंगाल एसियाटिक सोसायटी की स्थापना हो चुकी थी और भारतीय इतिहास - लेखन का कार्य प्रारंभ हो चुका था, संजीदा ढंग से और विस्तृत रूप से इतिहास-लेखन का कार्य (विशेष कर भारत के अतीत पर) 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद ही शुरू हुआ। इसे मैक्समूलर ने " ए हिस्ट्री आन एनसिएंट संस्कृत लिट्रेचर " (पृ० 1) में स्वीकार किया है।[3] इतिहास-लेखन में संजीदगी के आने का कारण भी मैक्समूलर ने बताया है। उनके अनुसार 1857 के संग्राम के बाद यह तेजी से अनुभव किया जाने लगा कि ब्रिटिश शासक यहां के धर्म, रीति-रिवाज़ और इतिहास से अनभिज्ञ थे। इसी कारण 1857 का विद्रोह हुआ।[4]

---

1. वि. मा., जून 1936
2. वही पृ० 753
3. डा० रामशरण शर्मा, आस्पेक्ट्स आफ पौलिटिकल आइडियाज़ - एंड इंस्टिट्यूशन इन एनसिएंट इंडिया, पृ० 1, मोतीलाल बनारसीदास पटना, 1959 ।
4. वही पृ० 2

17 मैक्स मूलर ने " सैक्रेड बुक्स आफ इस्ट " (1959), में यह निष्कर्ष दिया है कि भारत दार्शनिकों का देश है, यहां के लोगों में राजनीतिक समझ का अभाव है, राष्ट्रीयता की कमी है । सेनार्ट ने " कास्ट इन इंडिया " (1898) में लिखा कि भारतीयों के पास राज्य-सत्ता की कोई अवधारणा नहीं थी इसलिए संविधान से यहां के लोग अवगत नहीं हुए थे ।[1]

मैक्समूलर, सेनार्ट और अन्य पश्चिमी विद्वानों के इतिहास-लेखन का उद्देश्य यहां की जनता को वास्तविकता से दूर रखना था ताकि यहां की जनता हमेशा के लिए गुलाम बनी रहे । इसलिए वे राजनीतिक दृष्टिकोण से ब्रिटिश सरकार को सर्वोच्च प्रजातांत्रिक सिद्ध करने की कोशिश करते रहे । इसका आर्थिक कारण भी था । भारत के पूर्वकालीन इतिहास पर आरंभ में अंग्रेजी में एक पुस्तक लिखी गई, " ए कोड आफ जैन्टू लाज " (लन्दन, 1776), जिसमें यह कहा गया कि भारतीय वाणिज्य के महत्व और कोष में राज्य की स्थापना के लाभों को इस देश की विधि - संहिताएं अपनाकर ही कायम रखा जा सकता है जिनका विजेताओं की विधियों से हितों से आन्तरिक विरोध नहीं है । इसलिए आधुनिक भारतीय विद्या के जनक विलियम जोंस ने मनुस्मृति के अनुवाद के (1974) के आमुख में कहा कि यदि इस नीति का पालन किया गया तो हिन्दू प्रजा के सुनियोजित परिश्रम से ब्रिटेन की सम्पत्ति में भारी वृद्धि होगी । (इंस्टीट्यूट आफ हिन्दू ला आमुख, पृ०)[2] ।

ब्रिटिश सरकार के अधीन भारतीय इतिहास-लेखन का उद्देश्य भारतीय जनता को स्थायी तौर पर गुलाम बनाना था । इसलिए उनके इतिहासकार भारतीय जनता को आध्यात्मिकता के मुलावे में रख कर ब्रिटिश सरकार को उनका हितैषी सिद्ध करने की कोशिश करते रहे ।

---

1. डा० रामशरण शर्मा, आस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज़ - एंड इंस्टिट्यूशन इन एनसिएंट इंडिया, पृ० 1, मोतीलाल बनारसीदास पटना - 1959 ।
2. डा० रामशरण शर्मा - पूर्वकालीन भारतीय समाज और अर्थ व्यवस्था, पृ० 1, मोती लाल बनारसीदास, पटना (1978) ।
3. वही पृ० 2

19

जिस उद्देश्य से पश्चिमी इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास लिखा, उससे जो निष्कर्ष निकला वह भी अध्ययन योग्य है। समस्त भारतीय इतिहास को तीन भागों में विभाजित किया गया, हिन्दू काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल। यह विभाजन जेम्स मिल (हिस्ट्री आफ इंडिया) का था।[1] जेम्स मिल के इस काल विभाजन के पीछे निहित उद्देश्य का तो साफ पता चलता ही है साथ ही उनकी इतिहास-संबंधी दृष्टि का भी पता चलता है। उन्होंने इतिहास का अध्ययन वंशानुक्रम और घटनाओं के आधार पर किया।

राष्ट्रीय आन्दोलन को ठोस आधार प्रदान करने के लिए इतिहास-लेखन को राष्ट्रीय परिपेक्ष्य में देखना आवश्यक था क्योंकि ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता को गुमराह करने की कोशिश में लगी हुई थी।

'विशाल भारत' के सामने समस्या थी कि ब्रिटिश सरकार के निहित स्वार्थ को भारतीय जनता के सामने रखते हुए उन्हें यहां की वास्तविकताओं से कैसे अवगत कराया जाए? विशाल भारत ने सबसे पहले युरोपीय इतिहास-कारों की इतिहास संबंधी दृष्टि और उनके इतिहास-लेखन के उद्देश्य पर प्रहार किया। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने 'नया युग'[2] में लार्ड एंटन के विचारों का समर्थन करते हुए कहा कि इतिहास में घटना या तिथिक्रम का उतना महत्व नहीं है जितना उन घटनाओं को पैदा करने वाली सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों का है। 'ब्रिटिश सरकार किस प्रकार से वास्तविकता को गौण करने का प्रयास किया, इसकी ओर भी पत्रिका ने इशारा किया है। पत्रिका के सम्पादकीय विचार में भारतीय इतिहास पर मुछम्मा[3] शीर्षक से प्रकाशित टिप्पणी ध्यान देने योग्य है। इंगलैण्ड में

---

1. रोमिला थापर ; कम्युनलिज़्म एंड सेंसियट इंडियन हिस्ट्री, पृ0 4-5 कम्युनलिज़्म एंड राइटिंग आफ इंडियन हिस्ट्री (सं0 रोमिला थापर हबीब मुखिया और विपिन चन्द्र) में संकलित। पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969।
2. वि. भा., फरवरी 1933, पृ0 213-14
3. वि. भा., जुलाई 1934, पृ0 105-20

'क्लाइव आफ इंडिया' नामक नाटक लिखा गया जिसमें क्लाइव को महापुरुष कहा गया । कैम्ब्रिज के एक प्रोफेसर ने यह सिद्ध किया कि कलकत्ते की काल कोठरी में लोग दम घुटकर नहीं मरे थे, गर्मी के कारण उनकी जान गई थी । 'विशाल भारत' ने इसका खंडन करते हुए सरकार के स्वार्थयुक्त उद्देश्य से पाठक को अवगत कराया है ।

'विशाल भारत' के राष्ट्रीय इतिहास - लेखन पर जोर देने का उद्देश्य राष्ट्रीय आन्दोलन को तीव्र और व्यापक बनाना था । इसलिए पत्रिका ने अतीत कालीन भारत का ऐसा चित्र प्रस्तुत किया जो ब्रिटिश सरकार के लिए चुनौती साबित हो सके और राष्ट्रीय जागरण के लिए प्रेरणा का आधार बन सके । 19वीं शती के सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन के नेताओं ने भी ऐसा ही किया । स्वामी दयानन्द सरस्वती, बाल गंगाधर तिलक और महर्षि अरविन्द इनमें प्रमुख रहे हैं । परन्तु विशाल भारत और इन नेताओं के दृष्टिकोण (एप्रोच) में अन्तर रहा है । 'विशाल भारत' ने वैदिक युग की ओर लौटने और हिन्दू राष्ट्र की बात नहीं की है बल्कि ऐसे मौके पर इसने इसका खंडन ही किया है । उदाहरण के लिए यज्ञनारायण जी उपाध्याय का लेख 'दीक्षा का आयोजन'[1] को लिया जा सकता है जिसमें लेखक ने पच्चीस करोड़ हिन्दुओं के बीच दीक्षा का कार्यक्रम चलाने का प्रस्ताव रखा । 'विशाल भारत' ने इस पर काफी छींटा कसी की है, जिसपर पहले चर्चा की जा चुकी है । इसलिए विशाल भारत का नजरिया भाववादी नहीं था, इसे व्यावहारिक की संज्ञा दी जा सकती है । अतीत के प्रकाश दयानन्द सरस्वती भी वर्तमान भारत को प्रकाशमान करना चाह रहे थे और विशाल भारत की भी यही मंशा थी । लेकिन दोनों दो किनारों पर पहुंचते हैं । एक पुरानी व्यवस्था के तहस - नहस होने के गम में अतीत की यात्रा करना चाहता है, दूसरा वर्तमान और भविष्य को नई आंख से देखना चाहता है क्योंकि नई दुनिया को पुरानी आंखों से देखने का मतलब है

---

1. वि. भा. मार्च 1936, पृ0 507-12

खुद की विकास की रफ्तार में पीछे छोड़ देना ।[1] यहां भी पत्रिका पर 19वीं शती के आन्दोलन की उस धारा का प्रभाव नगण्य है जिसका नेतृत्व स्वामी दयानन्द सरस्वती, महर्षि अरविन्द इत्यादि कर रहे थे । यह स्वस्थ और व्यापक चिन्तन का द्योतक है ।

विशाल भारत ने राष्ट्रीय इतिहास - लेखन की अंध राष्ट्र-भक्ति से दूर रखा है बल्कि ऐसे मौके पर पत्रिका के सम्पादक ने अंध राष्ट्र-भक्ति की आलोचना ही की है । हालांकि इस संदर्भ में पत्रिका का अन्तर्विरोध भी स्पष्ट है । इस अन्तर्विरोध के संदर्भ को गौण नहीं किया जा सकता है ।

पत्रिका के सम्पादकीय विचार में ' इतिहास का विष '[2] शीर्षक से टिप्पणी प्रकाशित हुई है । इस टिप्पणी में लन्दन के एक शिक्षक सम्मेलन में एच.जी. वेल्स के हुए भाषण का अंश प्रकाशित हुआ है । सम्पादक (स. ही. वात्स्यायन ' अज्ञेय ') ने इस अंश को प्रकाशित करने के पहले इतिहास पर अपने विचार व्यक्त किया है, जो टिप्पणी लिखने के उद्देश्य को भी सामने रखता है । अज्ञेय जी का कहना है, " राजनीतिक व्यक्ति सदा से इतिहास की प्रामाणिकता के प्रति उपेक्षा लिए रहा है और दुर्भाग्य यह है कि इतिहासकार उसका अनुशासन करने की बजाय उसका अनुकरण ही करता रहा है ।"[3] इसके आगे सम्पादक ने वेल्स के भाषण के अंश को उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है : - " हिटलर और मुसोलिनी और तानाशाही पंथ के अन्य साथियों के अभियान को इस ज्ञान से कितनी गहरी ठेस लगती है कि जिस तलवार को थामे हुए वे आज संसार की शान्ति नष्ट करने पर तुले थे वास्तव में उन्होंने तलवार

---

1. अगस्त 1938 के विशाल भारत के सम्पादकीय विचार में भारतीय इतिहास परिषद में राजेन्द्र प्रसाद के हुए भाषण का एक अंश प्रकाशित हुआ है जो विशाल भारत के दृष्टिकोण को और ज्यादा स्पष्ट करता है । यह अंश इस प्रकार है - " हमारी राजनीतिक स्वतंत्रता की जद्दोजहद की तह में हमारी जाति का राजनीतिक , सामाजिक आर्थिक सभी प्रकार का पुनर्जीवन हो रहा है । उस पुनर्जागरण का यह एक शुभ लक्षण है कि हमारे विद्वानों की दिन-ब-दिन बढ़ती " अपने राष्ट्रीय इतिहास के अध्ययन और स्पष्टीकरण की ओर झुक रही है । क्योंकि इतिहास का अध्ययन वस्तुतः राष्ट्र का आत्मपर्यवेक्षण ; वह अतीत की ज्योति से अपनी

की मूठ नहीं पकड़ी है तलवार ही उनकी नियति की जगह लिया है - केवल उनकी ही नहीं प्राचीनता के अंधकार में खोए हुए उनके दढ़ियल पुरखों की भी, जिनकी दुहाई देकर वे आज अपना उत्कर्ष सिद्ध करना चाहते हैं।"[4] इसलिए वेल्स का कहना है - "जितना ही हम दूसरी जातियों का इतिहास पढ़ते हैं, उतना ही उससे घृणा करते हैं। यदि हम संसार में व्यवस्था देखना चाहते हैं तो हमें उसको एक मानना होगा, और उस इतिहास की उपेक्षा करनी होगी जो जातियों, राष्ट्रों और साम्राज्यों से संबंध रखता है।[5]

वेल्स ने विशिष्ट समय - संदर्भ में जाति या राष्ट्र के इतिहास-लेखन की आलोचना की है और शायद उनका संकेत इतिहास-लेखन के आधयात्मिक सिद्धान्त की ओर है। यह समय - संदर्भ द्वितीय विश्व-युद्ध का है। हिटलर और मुसोलिनी अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ बताकर पूरी दुनिया में प्रलय मचाने पर तुले हुए थे। वे अपने स्वार्थ के लिए राष्ट्र भक्ति का इस्तेमाल कर रहे थे, वेल्स ने इसकी ओर संकेत किया है। परन्तु वे औपनिवेशिक राष्ट्रों में बढ़ रहे राष्ट्रीय इतिहास लेखन जिसमें औपनिवेशिक राष्ट्रों की जनता की राष्ट्र-भक्ति व्यक्त होती है और हिटलर तथा मुसोलिनी की अंध राष्ट्रभक्ति में अन्तर नहीं कर पाए। इस अन्तर को नजरन्दाज करने का मतलब है कि वेल्स शायद नेपथ्य से द्वितीय विश्व-युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन भी करना चाहते हैं। जर्मनी के फासीवाद के खिलाफ होना करना उचित है। परन्तु इसकी बुनियाद ही कमजोर है। यह कमजोरी पूरी दुनिया को एक व्यवस्था मानने और तत्कालीन स्थितियों को नकारने से पैदा हुई है। तत्कालीन स्थिति थी कि जैसे ब्रिटेन का पूंजीपति वर्ग हिन्दुस्तान का शोषण कर रहा था, इस शोषण के विरुद्ध जनता में राष्ट्रीय चेतना आई थी, इसे हिटलर और मुसोलिनी के सापेक्ष देखना एक दृष्टि से शोषण का समर्थन करना है।

अपने वर्तमान के स्वरूप को पहचानने और भविष्य के रास्ते को उजियारा करने की चेष्टा है।" पृ0 218

2. वि. भा. जून 1938 पृ0 695-97
3. वही पृ0 695
4. वही पृ0 697
5. वही पृ0 697

23

राष्ट्रीय इतिहास-लेखन का अध्ययन समय - सापेक्ष करना होगा। एक विशेष समय में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका की समझना होगा। पेत्स की दृष्टि नकारात्मक है जो उनके भावुक होने का परिणाम है। अज्ञेय जी के साथ भी यही स्थिति है। ये तत्कालीन राजनीतिक विचारधाराओं की गणेश कर एकबारगी में यह टिप्पणी देते हैं कि राजनीतिक व्यक्ति सदा से इतिहास की उपेक्षा करता रहा है। यदि किसी राजनीतिक व्यक्ति के लिए इतिहास का कोई महत्व नहीं है तो उसकी राजनीति का विश्लेषण करना होगा। राजनीतिक व्यक्ति इतिहास की उपेक्षा करता है, इससे बेहतर और ज्यादा तर्क संगत यह है कि कुछ राजनीतिक लोग इतिहास का इस्तेमाल अपने हित के लिए करते हैं। तब यहां जनता और व्यक्ति -विशेष की राजनीति का अन्तर स्पष्ट होगा। मात्र हिटलर और मुसोलिनी का विरोध करने के लिए पूरी जाति या राष्ट्र के इतिहास - लेखन के विरुद्ध जाना अतिवादी होने का सूचक है। यह कुछ-कुछ ऐसा ही है जैसे 19 वीं शती के आन्दोलन के कुछ नेता ब्रिटिश सरकार का विरोध करते हुए वैदिक युग की ओर लौटने की बात करते थे। यहां सम्पादकों के दृष्टिकोण के अन्तर को समझा जा सकता है। 1938 में स. ही. वात्सयायन 'अज्ञेय' 'विशाल भारत' के सम्पादक थे, उसके पहले बनारसीदास चतुर्वेदी थे। अज्ञेय जी की दृष्टि नकारात्मक है जो उनके भावुक होने का परिणाम है, चतुर्वेदी जी की दृष्टि व्यावहारिक है जो राष्ट्रीय आन्दोलन को सकारात्मक रूप देती है।

उपरोक्त अन्तर्विरोध के बावजूद पूरी समग्रता में राष्ट्रीय इतिहास-लेखन का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के खिलाफ संगठित हो रही जनता को यहां की वास्तविक स्थितियों से अवगत कराना रहा है जो स्वतंत्रता की मांग कर रही थी। मिलाजुला कर 'विशाल भारत' के राष्ट्रीय इतिहास - लेखन का उद्देश्य यहां के राष्ट्रीय आन्दोलन को ठोस रूप प्रदान करना ही था।

तृतीय अध्याय

युगीन आर्थिक और राजनैतिक परिवेश और 'विशाल भारत'

(क) विशाल भारत का आर्थिक चिन्तन

(ख) राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास

'विशाल भारत' का आर्थिक चिन्तन

~~'विशाल भारत का आर्थिक चिन्तन'~~

' विशाल भारत ' ने ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों का मूल्यांकन राष्ट्रीय आन्दोलन के संदर्भ में किया है । राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकता को देखते हुए पत्रिका ने आर्थिक नीतियों की जांच-पड़ताल की है । इसलिए ' विशाल भारत ' सर्वप्रथम ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों पर प्रहार करते हुए पाठकों के सामने उसके निहित स्वार्थ का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है जिसे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में भी देखा जा सकता है ।

भारत में ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारतीय जनता का शोषण कर युरोप के बाजार में अपनी साख जमाना था । शीतला सहाय, मन्त्री चरखा-संघ ने अपने निबंध ' शक्कर का व्यवसाय ' [1] में ब्रिटिश सरकार के इस उद्देश्य का विस्तार से वर्णन किया है । श्री सहाय के अनुसार शक्कर की दुनिया में हिन्दुस्तान सारे राष्ट्रों में प्रमुख रहा है । यह एक आंकड़ा देकर उन्होंने इसे सिद्ध किया है कि यह देश इंगलैण्ड तथा अन्य देशों को हमेशा शक्कर निर्यात करता रहा है । आंकड़ा इस प्रकार है :-

1841 में 1037501 हे.वेट , 1851 में 1506051 हे.वेट , 1882 में 11455685 हे.वेट, 1899 से 1902 तक 733654 हेडरवेट भेजी गई ।

इस प्रकार 1851 के बाद धीरे-धीरे हिन्दुस्तान से शक्कर के निर्यात में कमी आने लगती है और युरोप के बाजार से हिन्दुस्तानी शक्कर धीरे - धीरे लुप्त होती जाती है । हालत इतनी बदतर होती गई कि हिन्दुस्तानी शक्कर की बजाय हालैण्ड की शक्कर बिकने लगी । शक्कर के व्यवसाय में फ्रांस, बेल्जियम और हालैण्ड ये तीन राष्ट्र सबसे आगे थे । इन देशों का जावा, क्यूबा आदि प्रान्तों पर अपना आधिपत्य था । धीरे - धीरे हिन्दुस्तान पर उनका आधिपत्य होने लगा । इंगलैण्ड के लिए यह असहनीय था, इसलिए 1868, 1869, 1872 और 1873 में शक्कर व्यवसाय को लेकर सम्मेलन भी हुए जो बिना किसी निर्णय के समाप्त हो गए ।

इंगलैण्ड ने एक तरकीब निकाली । उन्होंने 1899 में विदेशी शक्कर कर लगाया जिसका उद्देश्य मारीशस के पूंजी-पतियों की रक्षा करना था किंतु हकीकत कुछ और थी । मारीशस में इंगलैण्ड के पूंजीपतियों के शक्कर-कारखाने चलते थे ।

---

1. वि. भा. भाद्र 1928 पृ0 161-67

शक्कर के व्यवसाय के साथ गुलामों का व्यापार जुड़ा हुआ था। और यूरोप के पूंजीपति देश में व्यापार करते थे। 1834 में अंग्रेजों के मुल्कों में यह व्यापार बन्द कर दिया गया किन्तु बदले में हिन्दुस्तानियों को भर्ती किया गया। मात्र इंगलैण्ड ही नहीं, अमेरिका, फ्रांस सभी हिन्दुस्तानियों को प्रतिबद्ध कुली के रूप में भरती करने लगे। इस तरह हिन्दुस्तान पूंजीपतियों की प्रतियोगिता का अखाड़ा बन गया, जिनका उद्देश्य हिन्दुस्तानी जनता को लूटना था। लेखक (शीतला सहाय) ने बड़ी सफाई से यूरोपीय राष्ट्रों का चरित्र - चित्रण किया है। चाहे वह इंगलैंड हो, या हालैण्ड या फ्रांस, सभी की दृष्टि वैभवशाली भारत की ओर लगी हुई थी। सभी भारत को लूटना चाह रहे थे और पूंजीपतियों की प्रतियोगिता में भारत की जनता पिस रही थी।

ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान के बाजार का यूरोप के बाजार में रूपान्तरण करने के साथ साथ हिन्दुस्तानी जनता को पुरसहाल रखने की एक और साजिश की। रामानन्द चैटर्जी ने " देश की बात "[1] में इसकी ओर इशारा किया है। इंगलैण्ड की सरकार अंग्रेज महाजनों से हिन्दुस्तान के लिए रुपया कर्ज लेती जिसकी राशि 75 लाख पौंड होगी। चैटर्जी का कहना है -

" हमारे देश की अंग्रेज सरकार यदि सरकारी काम के लिए ऋण लेकर ब्याज देती है तो वह ब्याज दी जाती है महसूल या करके रुपये में से; और वह कर हमसे ही टैक्स के रूप में वसूल किया जाता है। "[2] इंगलैण्ड की सरकार दुहरा काम करती है। एक काम जो कि वह हिन्दुस्तान के व्यवसाय पर कब्जा कर यहां के विकास के लिए इंगलैण्ड के पूंजीपतियों से कर्ज लेती है और ब्याज के रूप में यहां की जनता से टैक्स लेती है। भारत के आय - व्यय पर विचार करते हुए चैटर्जी लिखते हैं - " भारतीय व्यवस्थापिका सभा में भारत साम्राज्य के लिए सन् 1928-29 के आनुमानिक आय-व्यय का जो बिल पेश किया गया है, उससे मालूम होता है कि कुल आमदनी होगी 132 करोड़ 23 लाख की और कुल खर्च होगा[3] 129 करोड़ 60 लाख रुपया। उस हिसाब से 2 करोड़ 63 लाख रुपये बच रहते हैं,

---

1. वि. भा., जनवरी 1928, पृ० 401-406
2. वही पृ० 406
3. यहाँ ' बचे ' होना है चाहिए, यह छपाई का दोष है।

इसलिए भारत गवर्नमेण्टों से जो वार्षिक सहायता लिया करती थी, उससे वह मौकूफ की जायगी, डाक-महसूल नहीं घटेगा, न नमक का कर ही घटाया जायगा, टैक्स देने वालों को सभी टैक्स पहले जैसे ही देने पड़ेंगे।" [1]

लेखक ने 1921-22 से लेकर 1928-29 तक अंग्रेजों द्वारा किये गए सामरिक व्यय की तालिका देते हुए यह बताया है " भारतवर्ष के स्वराज्य पाने के विरुद्ध अंग्रेज लोग यह युक्ति पेश किया करते हैं कि भारतवर्ष अपनी रक्षा अपने आप करने में असमर्थ है, वे स्वराज्य या स्वायत्त शासन पाने के भी अधिकारी नहीं हैं और न उनमें अभी इतनी योग्यता ही हो सकती है कि वे अपना शासन आप काम कर लें। [2] लेखक ने अंग्रेजी में मैकमिलन कम्पनी द्वारा प्रकाशित में उल्लिखित जापान का बजट प्रस्तुत कर यह बताया है कि जापान ने 1926-27 में स्थल युद्ध और जल - युद्ध पर मात्र 45 करोड़ रुपए खर्च किए जबकि उसी साल भारत की सरकार ने स्थल युद्ध विभाग पर 55 करोड़ 57 लाख रुपए खर्च किए फिर भी भारत की फौज जापान के मुकाबले कमजोर है। सामरिक व्यय पर इतना खर्च क्यों? क्योंकि भारत अपनी रक्षा करने में असमर्थ है, ये तर्क जन-हित करने का दावा करने वाली उस ब्रिटिश सरकार का है [3] जो यहां की जनता को अपंग बनाकर उसे अपनी अपंगता का बोध कराती है। इसके साथ ही भारतीय जनता के पैसे से निर्मित इस सेना का उपयोग उसी के खिलाफ किया जाना ब्रिटिश शासन के इस तर्क का खंडन करता है कि सामरिक व्याज का उद्देश्य भारत की रक्षा का है। ये एक शोषक सरकार का लक्षण है जो अपना लक्ष्य मन में कुछ और रखती है और जनता के सामने कुछ और पेश करती है।

यहां " विशाल भारत " पर पूर्ववर्ती भारतीय अर्थशास्त्रियों के चिन्तन का प्रभाव भी देखा जा सकता है। " विशाल भारत " ने टैक्स-प्रणाली की कुरी

~~1. यह " दो " होना है चाहिए, यह छपाई का दोष है। पृ0 405~~

2. 1. वही पृ0 405

3. 2. " स्वराज्य की आवश्यकता और हमारी योग्यता " ले0 रामानन्द चट्टोपाध्याय, सम्पादक मार्डन रिव्यू, वि.भा. मई 1928 पृ0 656-59

आलोचना की, दादा भाई, नौरोजी जो पहले भारतीय अर्थशास्त्री थे, ने भी ब्रिटिश सरकार की टैक्स-प्रणाली की निन्दा की और ब्रिटिश सरकार के शोषक चरित्र को उजागर किया। वे लिखते हैं -

" सर जार्ज विनगेट ने, जो बम्बई भू-सर्वेक्षण प्रणाली को लागू करने वाले की हैसियत से भारत की जनता की दशा की निकट से जानकारी रखते हैं, भारत की दशा पर पड़ने वाले आर्थिक प्रभावों के संबंध में बताया था कि अगर टैक्स उसी देश में खर्च कर दिया जाय जहां से वह वसूल किया जाता है तो उसका प्रभाव सर्वथा उससे निम्न होता है कि टैक्स वसूल एक देश में किया जाय और खर्च दूसरे देश में किया जाय।" [1]

1853 में रेल-पथ का निर्माण कार्य शुरू हुआ। इसके दो उद्देश्य थे। एक कि कच्चे माल को बन्दर के हिस्सों से बन्दरगाहों तक पहुंचाना और ब्रिटेन से तैयार माल को बन्दरगाहों से देश के बन्दर के हिस्सों तक ले जाना। [2] इसका दूसरा लक्ष्य सेना को दूर - दूर तक ले जाना था। रेल निर्माण के लिए ब्रिटिश पूंजीपतियों को ब्रिटिश शासकों ने गारंटी दी कि रेलवे में हर पूंजी लगाने वालों को भारतीय वित्त से मुनाफा दिया जायगा। दादा भाई नौरोजी की इसपर टिप्पणी की है -- "सिर्फ इतनी सी बात से कि पंजाब का गेहूं बम्बई पहुंचा दिया जाय, उस गेहूं के दूर जाने से पहले भारत में जो कुछ पहले मौजूद था उसमें न तो गेहूं का दाना और न एक पाई धन जोड़ा जाता है। इस प्रकार की रेल-सम्पदा का कोई अस्तित्व नहीं है।" [3]

" विशाल भारत " में " भारत और साम्राज्य " [4] शीर्षक से एडवर्ड कारपेन्टर का लेख प्रकाशित हुआ था। इस में बैठे इस बुद्धिजीवी के मानस में

---

1. भारत में अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचारों का विकास - पी. के. गोपालकृष्णन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा0) लिमिटेड, नई दिल्ली 1980 पृ0 49
2. भारत का मुक्ति संग्राम - अयोध्या सिंह एक राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि मैकमिलन प्रकाशन, 1977
3. भारत में अर्थ शास्त्री संबंधी विचारों का विकास - पी. के. गोपालकृष्णन, पृ0 44।
4. वि.भा. जनवरी, 1934 पृ0 75-84, सम्पादक के अनुसार यह लेख आज से 33 वर्ष पहले 1900 में लिखा गया था।

5

बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में ही अंग्रेजी शासन का शोषक चरित्र कितना स्पष्ट था, वह निम्नांकित अंश से पता चलता है -

" हमारे राजनीतिज्ञों की नीति का सबसे बड़ा विचार इतना ही है कि भारत में रेलें लादकर (जो घाटे पर चल रही हैं) अंग्रेजी राज को प्रोत्साहन दिया जाय ; ब्रिटिश औद्योगिक पूंजी भारत में लगाई जाय, सीमान्त पर युद्ध छेड़े जायें, अपने हितों की रक्षा के नाम पर सिविल और फौजी शासन में लंबी-चौड़ी रकमें खर्च की जायें जो वास्तव में मध्यम श्रेणी के खाते पीते घरों के लड़कों को नौकरी देने में ही काम आती है ; और इस शासन प्रणाली को जारी रखने के लिए लोगों को दबाकर अन्तिम बूंद तक निचोड़ ली जाय ।[1] आगे लेखक लिखता है --

" भारत की समृद्धि के लिए रेलों की आवश्यकता नहीं, बल्कि आबपाशी की है ।"[2] दादा भाई नौरोजी ने रेल सम्पदा की खुली आलोचना की । " विशाल भारत " ने भी रेल-सम्पदा के पीछे प्रबुद्ध स्वार्थों का भंडाफोड़ किया । ब्रिटिश शासकों ने रेल निर्माण को महत्व दिये जाने के सवाल को कारपेन्टर ने उठाया है और राय दी है कि रेलों की जगह आबपाशी पर ध्यान दिया जाय ।

यह लेख एडवर्ड कारपेन्टर ने 1899 में लिखा । ठीक इसके तैंतीस वर्ष पूर्व 11 जून 1867 को जनरल सर आर्थर काटन ने लन्दन इंडियन सोसायटी में (जिसका निर्माण दादा भाई नौरोजी ने डब्ल्यू.सी. बनर्जी के साथ मिलकर किया था) " भारत में सिंचाई तथा जल-आवागमन की व्यवस्था "[3] शीर्षक से अपना निबंध पढ़ा । उस समय जबकि सारा देश दुर्भिक्ष की चपेट में था । ब्रिटिश अधिकारी नहरों की अपेक्षा रेल के निर्माण पर अपना धन व्यय कर रहे थे ~~ठीक उसके~~ दस साल बाद 1878 में ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त सेलेक्ट कमिटि के सामने तीन करोड़ पौंड के खर्च की भारत में यातायात के उपयुक्त नहरें बनाने की योजना आई लेकिन सेलेक्ट कमिटि ने इसे ठुकरा दिया ।[4] इस प्रकार ब्रिटिश

---

1. वि. भा. जनवरी 1934 पृ0 81
2. वही पृ0 81
3. भारत में अर्थशास्त्र संबंधी विचारों का विकास - पी. के. गोपालकृष्णन, पृ0 381 ।
4. भारत में मुक्ति संग्राम - अयोध्या सिंह, पृ0 11 ; इंगलिश मैन 15 अप्रैल

6

सरकार ने जनता के हित की नजरन्दाज कर अपने हित के लिए भारत के साधनों का उपयोग किया। इसलिए 'विशाल भारत' की दृष्टि में हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तानियों के लिए नहीं थी क्योंकि वह उनके हित को पूरा नहीं कर पा रही थी। यही राष्ट्रीय आन्दोलन की वह आर्थिक पृष्ठभूमि है, जिसे 'विशाल भारत' ने प्रस्तुत किया है।

पुन: अंग्रेजी सरकार भारतीय जनता के हित की बात करती थी और भारतीय जनता को उसकी अपंगता का बोध भी कराती थी। उसका दावा था कि हिन्दुस्तानियों को एक सभ्य व्यक्ति बताने के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक डाक तार चालू किया, रेल निर्माण का कार्य शुरू किया। सरकार हमेशा भारतीय जनता को दुतरफा बोध कराती रही। एक यह कि वह अशिक्षित है और साथ ही असभ्य भी, इसलिए अगर उसे आजादी दे दी जाय तो संभव है कि वह अच्छा शासन अपने देश में स्थापित नहीं कर सके। श्री रामानन्द चटर्जी ने 'स्वाधीनता के कुछ लाभ'[1] में कुशासन, स्वाधीनता और शिक्षा तीनों पहलुओं पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। चैटर्जी का कहना है कि अगर हिन्दुस्तान की जनता अशिक्षित है तो क्या ब्रिटिश सरकार अपने देश की तरह यहाँ की जनता को नि:शुल्क शिक्षा दे सकती है, बिल्कुल नहीं, बल्कि वह शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने से कतराती है। उन्होंने स्वाधीन और पराधीन देशों का अन्तर स्थापित करते हुए स्वाधीनता को अनिवार्य बताया है। चैटर्जी का आशय है कि स्वाधीनता देश को समृद्धशाली बनाती है, पराधीनता विपन्न। जब स्वाधीनता मिल जायगी तो 'सुशासन भी स्थापित हो जायगा। ब्रिटिश सरकार विकास के नाम पर रेल की ~~धमक~~ मुला जपती थी ताकि जनता रेल के पीछे अंधी हो जाय और राजनीतिक रूप में बिल्कुल बहरी गूंगी रहे। रामानन्द चैटर्जी का उपरोक्त निबंध ब्रिटिश सरकार के इस रहस्य का उद्घाटन करता है।

---

1. वि. भा. अप्रैल 1928, पृ0 427-31

7

भारत का जो भी आर्थिक विकास हो रहा था, जनता की राजनैतिक चेतना की पृष्ठभूमि का आधार भी वही था। नहरों के बदले रेलें बिछाई गईं, जनता इसकी वजह जानती थी क्योंकि ब्रिटिश शासन के पूर्व भारत में सिंचाई की आवश्यकता को उस समय की सरकार पूरी करती थी, अंग्रेजी सरकार ने सिंचाई की तरफ ध्यान न देकर अन्य चीजों की तरफ ध्यान दिया। इसलिए अंग्रेजी सरकार जनता के दिमाग में एक विभाजन रेखा बनाने की कोशिश में लगी हुई थी। विभाजन रेखा की एक तरफ भारत का आर्थिक विकास था, दूसरी तरफ राजनैतिक आन्दोलन। सरकार की दृष्टि में राजनैतिक आन्दोलन से आर्थिक विकास की प्रक्रिया शिथिल होती थी। इसलिए उसी के अनुसार भारतीय जनता को आर्थिक विकास की ओर अपना ध्यान लगाना चाहिए। इन्हीं बातों को "विशाल भारत" ने अपने सम्पादकीय विचार में "तानाशाही और सुख-समृद्धि"[1] शीर्षक के अन्तर्गत रखा है। कलकत्ते में स्नातकों के उत्सव पर सेन्ट एंड्रूज ने अपने भाषण में कहा -

"लोग अक्सर इस तरह की बातें करते हैं, मानो राजनैतिक आत्म-प्रकाश की प्रेरणा और जनता की आर्थिक उन्नति की प्रेरणा एक ही हो और अभिन्न चीज हो-मानो एक के होने से दूसरी जरूर ही उसके साथ आती है। लोग यह भूल जाते हैं कि तानाशाही (Dictatorship) सुख-समृद्धि दे सकती है और अक्सर राजनैतिक स्वतंत्रता खरीदने में कठिनाइयां और राष्ट्रीय दरिद्रता फेलनी पड़ती है।"[2] एन्ड्रूज ने अमेरिका का उदाहरण दिया है। अमेरिका के विधान निर्माताओं ने संयुक्त राष्ट्र को केवल एकता और स्वतंत्रता प्रदान की थीं। सुख-समृद्धि प्राप्त करना लोगों की प्रारंभिक चेष्टा और देश की प्राकृतिक सम्पदा की प्रचुरता पर निर्भर है। इस भाषण से एक बात स्पष्ट है, कि जनता की सुख-समृद्धि का राजनीति से कोई संबंध नहीं है क्योंकि सुख-समृद्धि का आधार राजनीति न होकर वहां की प्राकृतिक सम्पदा है। सम्पादक की एन्ड्रूज के भाषण

---

1. वि. भा. जनवरी 1937 पृ0 108-9
2. वही पृ0 108

पर टिप्पणी इस प्रकार है ---

" आधुनिक रूस के निर्माताओं की कठोर तानाशाही ने सोवियट संघ की आर्थिक सुख-समृद्धि ही के लिए चेष्टा नहीं की है, वरन उन्होंने हाल ही में अपने विशाल देश को संसार का नवीनतम और सबसे अधिक जनतन्त्रवादी शासन-विधान और " राजनैतिक स्वतन्त्रता भी दी है।" [1]

" विशाल भारत " की दृष्टि में एक स्वतंत्र देश की तानाशाही सरकार और एक परतंत्र देश की तानाशाही सरकार में मौलिक अन्तर है। परतंत्र देश की तानाशाही सरकार अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए शासन करती है, स्वतंत्र देश की तानाशाही सरकार (रूस) जनता की सुख-समृद्धि के लिए शासन करती है। एक अपने लिए दूसरी जनता के लिए शासन करती है। पराधीनता की जड़ आर्थिक शोषण है, स्वाधीनता की जड़, आर्थिक शोषण से मुक्ति है। अतएव, आर्थिक शोषण से मुक्ति पाने के लिए स्वाधीनता अनिवार्य है। अतएव स्वाधीनता के लिए स्वाधीनता अनिवार्य है। अतएव स्वाधीनता के लिए किया गया राजनैतिक आन्दोलन भी आर्थिक प्रश्नों से स्वतंत्र नहीं है।

ब्रिटिश सरकार की नीतियों की आलोचना कर " विशाल भारत " ने यह स्थापित किया है कि किसी भी दृष्टि से विदेशी सरकार यहाँ के लिए हित औ उपयुक्त नहीं है। किन्तु, वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का विकल्प क्या हो सकता था ? विदेशी सरकार का विकल्प देशी सरकार होगी। यह तो समझने योग्य बात है किन्तु कैसी सरकार होगी, उस सरकार की आर्थिक नीतियां कैसी होंगी ? इस पर विचार करने से पहले यहां संक्षेप में ब्रिटिश सरकार के कारनामों की ~~संक्षेप में~~ चर्चा कर देना आवश्यक होगा।

ब्रिटिश सरकार की कृषि और उद्योग संबंधी व्यवसाय की घरेलू एकता को नष्ट किया। इसने सिंचाई और सार्वजनिक कार्यों की उपेक्षा की। उसने जमीन पर निजी स्वामित्व कायम किया और तब उसके बाद शहर में रेल - सम्पदा,

---

1. वि. भा. जनवरी, 1937 पृ0 108

डाक-तार और कुछ फैक्ट्रियाँ स्थापित की। अर्थात् विदेशी सरकार ने सबसे पहले भारत की रीढ़ पर आघात किया। इससे गाँव और शहर के बीच की दूरी बढ़ती गई।

'विशाल भारत' का पहला कार्य गाँवों की बिगड़ती हुई आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के क्षेत्र में था। इस की कल्पना में भारतीय गाँव का कैसा स्वरूप होना चाहिए? यह भी विचारणीय है।

'ग्राम संगठन और आर्थिक समस्या'[2] में लेखक जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, बी. एल. ने गाँवों को सुव्यवस्थित रूप से आगे बढ़ाने के लिए ग्राम संगठनों की आवश्यकता और उसके कार्यों पर प्रकाश डाला है। उसके अनुसार ग्राम संगठन का पहला कार्य था गाँवों में कुछ भूमि लेकर कृषि कार्य करना। जो नवीन प्रणाली पर अवलम्बित हो। दूसरा कार्य था, गौ वंश के क्रमिक ह्रास के कारण कृषि की दुर्दशा में सुधार लाना,। तीसरा कार्य ग्रामवासियों की सहायता से छोटे छोटे दस्तकारी शिल्पों का प्रचार करते हुए उनके लिए अर्थोपार्जन करना था। इसके लिए सूत कातने, करघे से कपड़ा बुनने को बढ़ावा देने की आवश्यकता थी। चौथा कार्य समवाय समिति (Co-operative society) स्थापित करना जिसके कोष से कृषकों को कम सूद पर रुपया उधार दिये जाने की व्यवस्था हो। समवाय समिति का अपना पुस्तकालय और वाचनालय खोलना भी होगा।

यहाँ शंकर सहाय सक्सेना, एम.ए. विशारद के लेख 'ग्राम्य सुधार और ग्रामीण धंधे'[3] की चर्चा एक साथ होनी चाहिए। इससे ग्रामीण व्यवस्था के बारे में इस पत्रिका के व्यवस्थित दृष्टिकोण का पता लगेगा। इस लेख में लेखक ने भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के कृषि विकास का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष कहा है कि भारत की बिगड़ती हुई खेती का मूल कारण यहाँ का कम उत्पादन है। जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में इसका कारण इने -

---

1. (क) आज का भारत - रजनी पाम दत्त
   (ख) भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि - ए. आर. देसाई - के आधार पर।
2. वि. मा. 'हमारे ग्राम' खंड, जुलाई 1930 पृ0 96-98
3. वही अक्तूबर 1930, पृ0 509-12

गिने पूंजीपतियों के हाथ में सम्पत्ति का केन्द्रित हो जाना है । इसलिए लेखक ने कुटीर उद्योग की आवश्यकता पर बल दिया है और औद्योगीकरण का विरोध करते हुए लिखा है - " जो लोग यंत्रों की उपयोगिता पर मुग्ध हैं, वे भूल जाते हैं कि जिन देशों में श्रमजीवी कम हैं, वहां पर यंत्रों की सहायता लेकर धंधे चलाये जाते हैं, लेकिन भारतवर्ष में तो मजदूरों की कमी नहीं है ; थोड़ी सी मजदूरी में चाहे जितने मजदूर मिल सकते हैं ; फिर इस शक्ति को छोड़कर व्यर्थ में हम यहां यंत्र को क्यों ढूंढें ? "[1] आगे लेखक लिखते हैं - " फिर यदि यह भी मान लें कि बड़े-बड़े कारखाने खुलने से ही देश सम्पत्तिशाली हो सकता है, तो यह कहां तक सम्भव है कि देश पाश्चात्य देशों की भांति औद्योगिक देश बन जाय । आज संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंगलैण्ड भी इस बढ़ते हुए पूंजीवाद से घबड़ा रहे हैं । "[2]

इन दो लेखों के मूल में पूर्ववर्ती ब्रिटिशकालीन भारतीय गांवों की आत्मा बसी हुई है । उस समय कृषि और घरेलू धंधों में अन्योन्याश्रय संबंध था । जितना उत्पादन होता था, गांव के बाजार में ही उसकी खपत हो जाती थी इसलिए अतिरिक्त उत्पादन का सवाल ही नहीं था । जब अतिरिक्त उत्पादन नहीं तो अतिरिक्त भोक्ता कहां से आते । अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान की धरती पर कदम रखते ही कृषि और घरेलू धंधों का संबंध विच्छेद किया । उन्होंने जमीन्दार वर्ग को प्रोत्साहन दिया । खेती और दस्तकारी दोनों में क्रमिक रूप से ह्रास होने लगा । अतएव ' विशाल भारत ' की चिन्ता ह्रासोन्मुखी खेती को नया जीवन देने की थी । इसके लिए दस्तकारी और कृषि के प्राचीन संबंध का होना भी आवश्यक था । इससे दो लाभ थे । एक कि किसान जो कर्ज के बोझ से लद रहे थे , उन्हें कर्ज से मुक्ति मिलती और दूसरा यह कि दस्तकार लोग, जो गांव से शहर की ओर भाग रहे थे और वहां भी उन्हें बेकारी की जिन्दगी बितानी पड़ती थी, वे गांव की ओर लौटते । इस तरह गांवों को नया जीवन मिलता । इसलिए

---

1. वि. भा. अक्तूबर 1930, पृ0 511 ' हमारे ग्राम ' स्तंभ ।
2. वही पृ0 511

11

चरखे - खादी को इसकी धुरी में रखा गया। किन्तु चरखे खादी और यंत्र को लेकर भी "विशाल भारत" में काफी बहस हुई।

चरखे का महत्व कई कारणों से था। चरखा आर्थिक विकास की कल्पना के साथ -साथ राजनैतिक आंदोलन का भी एक आधार था। चरखे के माध्यम से दस्तकारी और कृषि के बीच फिर से संबंध स्थापित किये जा सकते थे। इस संबंध से जो उत्पादन होता, उसकी खपत गांव के बाजार में ही हो जाती। इस तरह मशीनीकरण के खिलाफ चरखा एक सफल औजार साबित हो सकता था।

"विशाल भारत" में रामदास गौड़ की पुस्तक समीक्षा "खद्दर का सम्पत्तिशास्त्र"[1] शीर्षक से प्रकाशित हुई है। रिचर्ड, बी0 ग्रेग की इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद सस्ता साहित्य मंडल, अजमेर से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में खादी की आवश्यकता और उसके महत्व पर विचार किया गया है। ग्रेग का मानना है "एक - एक इंजन थोड़े - थोड़े ही काल में सौ- सौ आदमियों के काम पूरा करके जब धर देता है तो सैकड़ों आदमियों का बेकार, आलसी और निकम्मा हो जाना स्वाभाविक है"।[2] ग्रेग साहब आगे लिखते हैं - "....... परन्तु संसार भर के मनुष्य मात्र की दृष्टि से बात तो वही रही कि जब कल-बल से इतना अधिक माल तैयार होने लगा, उसी परिमाण में छूटने वाले बाजार से संबद्ध आबादी भी बेकार निकम्मी हो जाने लगी।[3] तब सवाल है कि सही अर्थों में आर्थिक समृद्धि कब हो सकती है, इसके जवाब में ग्रेग साहब का कहना है - "जब तक साधारण वस्तुओं का बनाने वाला अपनी बनाई चीजें खरीद नहीं सकता, तब तक सच्ची समृद्धि नहीं हो सकती। अपने मजूर भी तो जनता का एक अंग ही है। यही बात

ग्राम संगठन, ले0 पं0 ज्वाला प्रसाद शर्मा, वि. भा. नवम्बर 1931, पृ0 569-76। इस लेख में भी शर्मा ब्रिटिश सरकार के इस विध्वंसक चरित्र पर प्रकाश डाला है।

1. वि.भा. अक्तूबर 1929, पृ0 457-461
2. वही पृ0 457-58
3. वही पृ0 457-58

हर जगह चल सकनी चाहिए।[1] इसलिए समीक्षक रामदास गौड़ का विचार है कि किसी भी प्रकार से संपत्ति का बंटवारा नहीं हो सकता। इसलिए उपाय एक ही है चरखे और खद्दर को अपनाया जाय।

खादी अपनाने का एक और कारण अनुत्पादक व्यय से मुक्त होना था। श्री पूर्णचन्द्र विद्यालंकार ने अपने निबंध "चरखे और खद्दर पर कुछ आपत्तियां"[2] में मिल पद्धति से होने वाले अनुत्पादन-व्यय का उल्लेख करते हुए खादी के महत्व की आंका है। अपने दूसरे लेख में "भारत की गरीबी और उसकी दवा" में वे गरीबी के निदान का एक मात्र रास्ता खादी को बतलाते हैं।

लेखक गौड़ और विद्यालंकार जो मूलतः मशीनी सभ्यता के विरोधी हैं, उनके चिन्तन का मशीनी सभ्यता के खिलाफ होने का भी कारण है। इस कारण की खोज भारत में हुई मशीनीकरण की प्रक्रिया में ही की जा सकती है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि भारत में रेल और डाक-तार का प्रारंभ अंग्रेजों ने अपने हित साधने के लिए किया। हिन्दुस्तान की जनता को नहर की जरूरत थी, ब्रिटिश सरकार ने उसे रेल दी। दस्तकारी और कृषि के संबंधों को छिन्न - भिन्न कर ब्रिटिश सरकार ने बेकारी की समस्या पैदा की क्योंकि धीरे - धीरे दस्तकार लोग गांव छोड़ कर शहर की ओर भागने लगे। किन्तु, शहर की मशीनी दुनिया में भी उन्हें उचित जगह नहीं मिली। इसलिए मशीनीकरण के खिलाफ होना स्वाभाविक था। महात्मा गांधी भी ऐसा ही सोचते थे। वे भारतीय गांवों के पुनरुद्धार पर जोर देते थे। एक ऐसा गांव जिसमें सहकारी खेती और उद्योग का ऐसा स्वरूप हो जिसमें शोषण की कम गुंजाइश हो, उसके अनुसार -

"ग्राम स्वराज का मेरा आदर्श यह है कि यह पूर्णतः गणतांत्रिक है, अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने पड़ोसियों से स्वतंत्र है, और जिन बातों में दूसरे के अवलम्बन की आवश्यकता है, उनमें यह अल्पांशित भी है। इसलिए हर गांव की पहली चिन्ता अपनी आवश्यकता भर के लिए समुचित रूप से कपास पैदा करने की

---

1. वि. भा. अक्तूबर 1929, पृ0 459
2. वही मई, 1930

13

होगी । इसकी भूमि में पशुओं के चरने के लिए चारागाहें सुरक्षित होंगी और बड़ों व बच्चों के खेलकूद मनोरंजन के लिए स्थान सुरक्षित होंगे । इसके बाद यदि अतिरिक्त भूमि उपलब्ध हो तो उस पर उपयोगी नकद फसलें बोयी जायेंगी पर इनमें गांजा, तम्बाकू, अफीम जैसी फसलें नहीं होंगी । गांव अपनी नाट्यशाला, स्कूल व सार्वजनिक भवन कायम करेगा और उनके रख-रखाव की जिम्मेदारी लेगा । पीने के पानी की आपूर्ति के लिए गांव में अपनी जल-व्यवस्था होगी । यह काम नियंत्रित कुओं और तालाबों से हो सकता है । बुनियादी शिक्षा की अन्तिम सीढ़ी तक शिक्षा अनिवार्य होगी । जहां तक संभव हो हर काम सहकारिता के आधार पर होगा । आज जैसी जाति-प्रणाली चल रही है, वैसी कोई जाति-प्रणाली न होगी और उनमें जो धार्मिक अस्पृश्यता है, वह भी नहीं होगी ।[1]

चित्रात्मक शैली में किए गए भारतीय गांव के इस चित्रण के मूल में कुछ बातें निहित हैं । एक तो ये कि गांवों में जितना उत्पादन होगा, उनका वितरण गांव में ही हो जायगा जिससे उत्पादन माल का रूप ग्रहण नहीं कर सके और बाजार को जन्म नहीं दे सके । इसलिए गांधी जी ने यह नारा दिया - " कताई द्वारा स्वराज्य " भारत जैसे अविकसित पूंजीवादी देशों में उन्होंने यह महसूस किया कि चरखे और हुनर में बहुत सीमित पूंजी की आवश्यकता पड़ेगी । कच्चे माल सस्ते में मिल जायेंगे और जहां हुनर होगा वहां बाजार भी तैयार हो जायगा । इसलिए न गरीबी आयेगी और न बेकारी । इस क्रम में महात्मा गांधी मशीनीकरण के खिलाफ थे । ग्रेग, रामदास गौड़ और पूर्णचन्द्र विद्यालंकार की दृष्टि भी गांधी जी के अनुकूल है ।

परन्तु इन लेखकों ने मशीनीकरण को सामाजिक व्यवस्था से जोड़कर देखने का प्रयास नहीं किया है । हालांकि वे इस बात को नहीं भूले कि ब्रिटिश सरकार की छत्रछाया में हिन्दुस्तान की धरती परभक्षियों की जो बहार है, वह

---

1. आर. के.मु. आर. राव की पुस्तक " द माइंड आफ महात्मा, पृ0 127, संदर्भ, पी. के. गोपालकृष्णन, भारत में अर्थशास्त्र संबंधी विचारों का विकास, पृ0 173 ।

सरकार के हित के लिए है । किन्तु, उन्होंने मशीन को ही दोषी ठहराया है । इस दृष्टि से देखा जाय तो ब्रिटिश सरकार का विरोध ये लेखक इस आधार पर कर रहे थे कि सरकार ने भारत की मिट्टी पर पांव रखते ही सुव्यवस्थित भारतीय गांवों को अव्यवस्थित कर दिया । इन्हीं लोगों को मशीनीकरण के साथ में हिन्दुस्तान की तरक्की होते देख नागवार लगा और ये लोग सरकार से ज्यादा मशीन पर आक्रमण करने लगे जो एक अतिवादी दृष्टिकोण था । प्राचीन भारत की कल्पना जिसे जीवन्तता प्रदान करने के लिए उपरोक्त लेखक महात्मा गांधी सहित व्याकुल थे, वह जीवन्त नहीं हो सकती थी । दूसरी बात यह कि ये लेखक ब्रिटिश सरकार के कारनामों की गहराई तक नहीं जा सके । अथवा उन्होंने जानबूझ कर वास्तविकता को नकारा । जैसे सरकार ने निजी सम्पत्ति की शुरुआत कर एक नए वर्ग, यानी जमींदार वर्ग को जनता के बीच खड़ा किया । अब किसानों का शोषण जमींदार और सरकार, दोनों करने लगी । रामदास गौड़ को सम्पत्ति का बंटवारा होना असंभव क्यों दीखता है? क्या वो किसानों को जमीन्दार एवं सरकार के खिलाफ संगठित करने की बात नहीं सोच सकते थे । क्या उनका यह दृष्टिकोण जमीन्दार वर्ग की तरफदारी नहीं करता ? इसी तरह का एक और उदाहरण ' विशाल भारत ' में मौजूद है । ' चयन ' स्तंभ के अन्तर्गत सैनिक से एक नोट प्रकाशित हुआ है ' जमीन्दारों के दुश्मन '[1] । लेखक ने कांग्रेस के प्रति जमीन्दारों के नकारात्मक रुख की आलोचना करते हुए लिखा है --

' यदि, ईश्वर ने उन्हें जो बुद्धि दी है, उससे काम लेकर हमारे जमीन्दार भाई सोचें, तो उन्हें मालूम होगा कि कांग्रेस तो किसानों को उनके मुनासिब हक देकर जमीन्दारों को सर्वथा नाश से और जमीन्दारी - प्रथा को भी हिंसा द्वारा नाश से बचा रही है ।[2] प्रो० शंकर सहाय सक्सेना, एम. ए., एम.काम. ने ' भारत में ग्रामीण ऋण चुकाने की समस्या '[3] निबंध में समस्या के हल के लिए भावनगर में किए गये प्रयोग की दिल से सराहना है । भावनगर के दीवान स्वर्गीय सर प्रभाशंकर पट्टनी ने किसानों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से एक योजना बनाई । इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने भावनगर के महाराजा से अनुमति मांगी । उन्हें अनुमति भी मिल गई । दीवान साहब ने एक आज्ञा निकाल कर भावनगर के महाजनों

---

1. वि. भा. सितम्बर, 1939 पृ० 329 - 30
2. वही पृ० 329
3. वही अगस्त, 1939 पृ० 169-76

सभी किसानों के ऋण का पूरा विवरण राज्य को देने का आदेश दिया। विवरण से ज्ञात हुआ कि ऋणों की राशि 86,38,874 रुपये हैं। सर प्रभाशंकर पट्टनी ने सब महाजनों को बुलाकर कहा कि राज्य किसानों के ऋण को चुकाने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेना चाहता है किन्तु वे इस मोटी राशि की एवज में 20,59,473 रुपये देंगे। पहले महाजन लोग अपनी राशि का एक चौथाई भी स्वीकार करने को राजी नहीं हुए, परन्तु जब उन्होंने राज्य का बहुत कड़ा रुख देखा, तब वे राजी हो गये। इस प्रकार महाजनों को केवल 20,59,473 रुपये देकर किसानों को उनके ऋण से मुक्त कर दिया गया। इसी प्रकार मध्य प्रान्त की सरकार ने 1933 में ऋण समझौता कानून (Debt Conscillation Act) बनाया जिसके अनुसार प्रत्येक ताल्लुके में एक ऋण-समझौता बोर्ड स्थापित कर दिया गया। कोई भी किसान जिसका ऋण 150 रुपये से कमनहीं है, वह ऋण समझौता बोर्ड को एक प्रार्थना पत्र दे सकता है। समझौता बोर्ड किसान की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए महाजन से ऋण की रकम को कम करवाने का प्रयत्न करता है। यदि कोई महाजन बोर्ड द्वारा निर्धारित रकम को लेने से इनकार कर दे वैसी स्थिति में बोर्ड किसान को एक सर्टिफिकेट देगा जिससे कि भविष्य में किसान के खिलाफ किसी भी प्रकार के मुकदमे की स्वीकृति नहीं मिलेगी। लेखक को इस बात की चिन्ता है कि महाजन किसानों को भरपूर चूसते हैं। लेखक को किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने की चिन्ता है। किन्तु, यह सुधार कैसे आयेगा, जब तक महाजन अपना शोषण जारी रखेगा? महाजन का शोषण बन्द हो जाना लेखक को मंजूर नहीं, इसलिए महाजनी प्रकोप के अन्तस्थ में न जाकर उसके आवरण में ही थोड़ी तबदीली की जाय। इससे महाजन भी खुश, किसान भी खुश और लेखक की कलम भी खुश। इससे सबका उद्धार हो जायगा।

इन लेखकों का यह रवैया किसी नादान बच्चे के मस्तिष्क की उपज नहीं है बल्कि एक ऐसे व्यक्ति के मानस की उपज है जो अपनी पूर्व परम्परा से किसी कारणवश कट चुका है और नए विकास की धारा में वह बहना नहीं चाहता। इसलिए जब रामदास गौड़ और पूर्णचन्द्र विद्यालंकार चरखे और खद्दर पर अपना सारा दिमाग खर्च करते हैं, तो 'विशाल भारत' के अन्य लेखक अनिलवरण राय, पांडुचेरी,

16

कदम-कदम पर इन्हीं लेखों को चुनौती देते हुए दिखाई पड़ते हैं। राय[1] की खादी का अस्तित्व किसी रूप में स्वीकार्य नहीं है, न बेकारी की समस्या के समाधान के लिए और न स्वाधीनता प्राप्ति के लिए। उन्होंने बेकारी की समस्या के हल के लिए चार सूत्री कार्यक्रम दिया है, जो इस प्रकार है -

(i) प्रतिवर्ष विदेशों से आए माल से कुछ कारखाने स्थापित करना जिससे देश के अनेक लोगों को काम मिले।

(ii) गांव में जल - निकास प्रणाली को दुरुस्त करना।

(iii) गांव में मिल स्थापित करना।

( ) ग्राम - संघ (Village Commune) को फिर से जीवित करना।

गांधी और विद्यालंकार जहां मशीनीकरण की बेकारी का आधार बताते हैं, वहीं राय बेकारी के हल के लिए मशीनीकरण की आवश्यकता पर बल देते हैं जो अधिक तर्क संगत है। राय गांधी जी के विचारों से कितना आगे हैं, यह स्पष्ट है। गांधी जी जहां 'समय और दूरी को समाप्त करने के पागलपन भरी इच्छा'[2] को आधुनिक सभ्यता का शैतान मानते हैं वहां राय उसे वरदान साबित करते हैं। राय, रामदास गौड़ और पूर्ण चन्द्र विद्यालंकार के लेखों से जो परस्पर विरोधी विचार सामने आए हैं, उनसे यह बात तो व्यक्त होती है कि विशाल भारत ने अपने पंख से भारत के आर्थिक विकल्प पर इस बहस का स्वस्थ आयोजन किया है। प्रश्न यह है कि 'विशाल भारत' की विकल्प के रूप में क्या खादी आन्दोलन ग्राह्य था? इसका उत्तर खादी और राजनीतिक आन्दोलन से संबद्ध लेखों के आधार पर मिल सकता है।

पुनः हम अनिलवरण राय जी के निबंध पर आयें।[3] अपने लेख में उन्होंने खादी को राजनीतिक आन्दोलन को तेज करने वाले औजार मानने से इनकार किया है। उनका कहना है कि खादी आन्दोलन के द्वारा स्वराज्य की प्राप्ति कम-से-कम अविश्वासनीय लगती है। उन्होंने इस संदर्भ में महात्मा जी के लेख को उद्धृत किया है

---

1. बेकारी की समस्या, वि. भा. जून 1929, पृ0 747-75।
2. पी. के. गोपालकृष्णन, भारत में अर्थशास्त्री संबंधी विचारों का विकास पृ0 176
3. वि. भा. जून 1929, पृ0 747-51

17

जिसके अनुसार " अखिल भारतीय चरखा संघ का राजनीति के साथ कोई भी सम्पर्क नहीं है। "[1] स्वयं लेखक ने The illusion of the charkha नाम से एक पुस्तक भी लिखी।

अप्रैल 1929 के " विशाल भारत में एक सम्पादकीय टिप्पणी प्रकाशित हुई है - " देशी राज्यों में सार्वजनिक कार्य एक विकट समस्या "[2] सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी ने देशी राज्यों की जनता की क्रियाशीलता में शिथिलता आने के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त की है। सम्पादक ने देशी राज्यों में काम करने वालों को पांच दलों में विभाजित किया है।

पहला दल उन लोगों का है जो राजनीति से अलग रहकर काम करते हैं। यह दल खादी दल है। दूसरा दल वह है जो राज्यों से बिगाड़ न कर के विपरीत परिस्थिति में भी शान्ति पूर्ण उपायों द्वारा काम करता है। यह पथिक दल है। तीसरा दल वह है जो राज्यों की अनुकूलता या प्रतिकूलता की चिन्ता न कर अपने निश्चित कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप देना चाहता है। वह राज्यों को कायम रखने के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखता।
चौथा दल वह है जो राज्यों से पूरी तरह निराश हो चुका है, इसलिए केवल प्रजा लोकमत और ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के हस्तक्षेप के द्वारा राज्यों के शासन में सुधार करना चाहता है।
पांचवें दल का ध्येय राज्यों के सम्बंध की सार्वजनिक प्रगति को असफल बनाना है। इसी के साथ चतुर्वेदी ने खादी जल पर यह आरोप लगाया है कि यह दल धीरे - धीरे अपने को राजनैतिक आन्दोलन से पृथक कर रहा है।

ठीक इस सम्पादकीय टिप्पणी के दो महीने बाद हरिभाऊ उपाध्याय का लेख प्रकाशित हुआ है " खादी वालों की तरफ से।[3] इस लेख में उपाध्याय जी ने सम्पादक द्वारा लगाए गए उक्त आरोप का खंडन किया है। उनके अनुसार " मेरी राय

---

1. वि. भा. जून 1929 पृ0 748
2. वि. भा. अप्रैल, 1929 पृ0 632-36, इस लेख के पृष्ठ गायब है।
3. वि. भा. जुलाई 1929 पृ0 67 - 70 (इसके बाद के पृष्ठ गायब है)

10

में यह कहना कि पहले वर्ग के लोग, जिनमें खादी वाले मुख्य हैं, देशी राज्यों में 'क्रियात्मक राजनैतिक आन्दोलन और संगठन का होना वांछनीय नहीं समझते खादी वालों की राजनीतिक स्थिति और विपर्याय करना है। हां, उनका यह कहना जरूर है कि इस समय एक ओर देशी राज्य गुलामों के गुलाम हो रहे हैं, दूसरे हमें सारी शक्ति, ब्रिटिश सरकार से मोर्चा लेने में लगा देनी है। ऐसी स्थिति में असंगठित और अव्यवस्थित दबी और सोई हुई जनता को एकाएक उनके खिलाफ भड़का कर एक ओर खामखाह देशी नरेशों को ब्रिटिश सरकार का जबर्दस्त सहायक बने रहने पर आमादा करना और दूसरी ओर अपने कार्यों और आन्दोलनों को असफल बनने देकर उल्टी प्रतिक्रिया मोल लेना है।'[1]

चतुर्वेदी जी और उपाध्याय जी के जवाब से एक बात तो निश्चित रूप से स्पष्ट होती है कि सम्पादक की दृष्टि में खादी आन्दोलन के आर्थिक पक्ष से ज्यादा राजनीतिक पक्ष का महत्व था। यह भी सच है कि 'विशाल भारत' ने अपने मंच से खादी को आर्थिक विकल्प बनाने की घोषणा नहीं की है बल्कि उसने खादी पर गरमागरम बहस छिड़ना ज्यादा बेहतर समझा है ताकि जनता ही इसका निर्णय कर सके। ऐसी विवादास्पद पक्षों पर 'विशाल भारत' चोर दरवाजों से बाहर निकल गया। खादी पर बहस का प्रारंभ कर उसने अपनी तरफ से कोई राय जाहिर नहीं की है। इसके दो कारण थे, एक कि उस समय खादी का जोर-शोर से प्रचार-प्रसार हो रहा था और भारतीय जनता स्वाधीनता का एक मात्र अस्त्र उसे मान रही थी। देश की हवा खादी की तरफ थी। यदि 'विशाल भारत' ने कोई ऐसा आर्थिक विकल्प दिया होता जो खादी के विपक्ष में होता, तब संभव था कि उसे जनता का कोपभाजन बनना पड़ता (है)। पुन: राजनैतिक आन्दोलन और खादी आन्दोलन स्वतंत्र दिशा में गतिशील होने लगे। फिर भी 'विशाल भारत' ने बहस की पृष्ठ भूमि अवश्य तैयार की है। किन्तु किसी ठोस विकल्प के अभाव में पत्रिका का सारा दृष्टिकोण स्वाधीनता प्राप्ति तक ही सीमित रह गया है।

---

1. वि. भा. जुलाई 1929, पृ0

9

राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास

' विशाल भारत ' में स्वराज्य से संबंधित कई लेख प्रकाशित हुए हैं जिनमें ब्रिटिश सरकार द्वारा अपने शासन के पक्ष में दिये गये तर्कों का खंडन किया गया है और स्वराज्य को भारतीय जनता की एक मात्र अभिलाषा की संज्ञा दी गई है। पत्रिका के प्रकाशक रामानन्द चैटर्जी ने स्वराज्य से संबंधित धारावाहिक लेख लिखकर भारतीय जनता के बीच स्वराज्य के पक्ष को व्यापक रूप में रखने का प्रयास किया।

' भारत की स्वाधीनता और हमारा कर्तव्य ' [1] लेख में रामानन्द चैटर्जी भारत के पराधीन होने के कारणों पर विचार करते हुए लिखते हैं - " अंग्रेजों द्वारा भारतवर्ष के पराधीन रक्खे जाने में जो अन्य ' सभ्य ' जातियां थोड़ी सी सहमत हैं, इसका कारण यह है कि वे आधुनिक भारतवर्ष को कुछ-न-कुछ असभ्य समझती हैं।" [2] इसलिए लेखक की सलाह है - " इसलिए हमें समझा देना होगा कि हम सभ्य जाति हैं। पर इस उद्देश्य की सिद्धि हमारे देश के सिर्फ ऊंचे वर्गों के शिक्षित और सभ्य होने मात्र से नहीं होगी ; शिक्षा और सभ्यता भारतवर्ष के सभी प्रदेशों और समाज के सभी वर्गों में व्याप्त होनी चाहिए।" [3] ब्रिटिश सरकार यहां के लोगों को सभ्य बनाने का एक मात्र हकदार अपने को समझती थी। इसकी पुष्टि चैटर्जी साहब के दूसरे लेखों में भी हुई है जिसकी चर्चा आगे होगी। ब्रिटिश सरकार की इस समझ ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि स्वराज्य का अधिकार केवल सभ्य लोगों को है, असभ्य इसका दुरुपयोग ही करेंगे। भारतीय जनता अभी तक सभ्य नहीं हुई है, इसलिए स्वराज्य उनके कद- बूते के बाहर की चीज है। रामानन्द चैटर्जी ने ब्रिटिश सरकार की इस समझ पर प्रहार किया है। अपने उसी लेख में उन्होंने यह संकेत भी किया है कि स्वराज्य का अधिकार केवल सभ्य लोगों को नहीं है। जो कोई भी भारत का निवासी है वह स्वराज्य का अधिकारी है।

इस दृष्टि की और स्पष्ट व्याख्या उनके दूसरे लेख ' देश की बात ' [4] में हुई है। वे लिखते हैं - " शिक्षा मनुष्य के लिए निश्चय ही बड़ा-भारी गुण है

---

1. वि. भा., फरवरी 1928
2. वही पृ0 213
3. वही पृ0 213
4. वि. भा. मार्च, 1928

20

पर यह कहना कि जो अपढ़ हैं और अशिक्षित है, वे स्वराज्य के अधिकारी नहीं हो सकते, यह शक्ति के उपासकों की स्वार्थमय बातें हैं और जानबूझकर इतिहास की सच्ची घटनाओं पर पर्दा डालने वाली हैं।[1] उसी लेख में लेखक ने प्रशान्त महासागर के पश्चिमी मध्य भाग गिलबर्ट और एलिस नामक टापुओं में बस रही जातियों, जिसपर ब्रिटिश सरकार का शासन है, के रेजिडेन्ट कमिश्नर मि. ह. सी. एलियट के लेख के एक अंश का उल्लेख किया है जो सितम्बर 1915 के 'युनाएटेड एम्पायर' नामक पत्र में प्रकाशित हुआ था। एलियट महोदय का कहना है - 'आज ब्रिटिश छत्र छाया में एक जंगली जाति स्वराज्य का सुख अनुभव कर रही है जो बिल्कुल अनोखी बात है। इन लोगों के अपने निजी कानून और नियम हैं जो सरकार द्वारा केवल संशोधित और परिमार्जित कर दिये गए हैं।'[2] इसपर रामानन्द बाबू की टिप्पणी देखें - 'एक तरफ मि० एलियट का लेख पढ़कर और दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार की हिन्दुस्तान को स्वराज्य देने में आपत्ति को देख कर यह निष्कर्ष निकलता है कि गिलबर्ट और एलिस द्वीपपालों की बर्बरता उसे उसको स्वराज्य योग्य बनाती है और भारत की आधुनिक फैली हुई सभ्यता उसका इस योग्य नहीं बनाती कि वह स्वराज्य का सुख अनुभव कर सके।'[3]

ब्रिटिश सरकार का मानना था कि भारतीय जनता स्वराज्य के योग्य नहीं हैं, सरकार उन्हें इसके योग्य बनाना चाह रही है। इसलिए उनके शासन का उद्देश्य भारतीयजनता को गुलाम बनाना नहीं है बल्कि उन्हें स्वराज्य के लिए योग्य बनाना है। अतएव उनका शासन अपनी स्वस्थता का परिचय है। अपने दूसरे लेख 'स्वराज्य की आवश्यकता और हमारी योग्यता'[4] में रामानन्द चैटर्जी ने यह सपाट उठाया है कि बिना स्वाधीनता के सुशासन कैसा? लेखक के अनुसार स्वाधीनता और सुशासन अलग नहीं हैं, स्वाधीनता के बाद ही सुशासन की कल्पना जीवन्त हो सकती है, उसके पहले नहीं। इसलिए स्वाधीनता अनिवार्य है। वह प्राथमिक

---

1. वि. मा., मार्च, 1928 पृ0 401
2. वही पृ0 402
3. वही पृ0 402
4. वही पृ0 536-39

आवश्यकता है, सुशासन उसी के बाद संभव है । लेखक ने अपनी इस स्थापना के पक्ष में कनाडा का उदाहरण दिया है जिसकी जनसंख्या 87,88,3483 है और इस स्वाधीनता प्राप्त देश में 1554 सामयिक पत्र प्रकाशित होते हैं । जबकि भारत की जनसंख्या कनाडा से पांच गुनी है और यहां से निकलने वाले सामयिक पत्रों की संख्या 632 है । ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य (इंटेंशन) शासन करना था, इसलिए उसने सुशासन और स्वाधीनता को अलग - अलग माना । रामानन्द चैटर्जी ने सरकार के इस उद्देश्य (इंटेंशन) पर आक्रमण किया है जो स्वाभाविक है । क्योंकि जब तक भारतीय जनता अपने शासक के उद्देश्य से अवगत नहीं होती है तब तक वह स्वराज्य की आवश्यकता भी नहीं महसूस करेगी । इसी सिलसिले में रामानन्द चैटर्जी ने उसी लेख में अंग्रेज शासक के इस तर्क का भी खंडन किया है कि भारतीय अपनी रक्षा करने में असमर्थ हैं । इसके प्रमाण में उन्होंने लेफ्टिनेन्ट जेनरल सर आयन की पुस्तक ' ए स्टाफ आफिसर्स स्क्रैप बुक ड्यूरिंग द रसियन - जापानीज़ वार ' नामक पुस्तक का उल्लेख किया है जिसमें लेखक ने भारतीयों के रण कौशल की प्रशंसा की है ।[1]

' विशाल भारत ' के सामने पहला और अन्तिम सवाल था, स्वाधीनता की प्राप्ति कैसे हो ? इसलिए उसने स्वस्थ शासन पर बल नहीं दिया जिसकी माला ब्रिटिश सरकार जपा करती थी । कारण कि स्वाधीनता से ही स्वस्थ शासन आ सकता है । ' विशाल भारत ' ने स्वराज्य के बाद का भारत कैसा होगा, इस पर विचार नहीं किया है । उसने आने वाले भारत के लिए कोई राजनीतिक और आर्थिक विकल्प नहीं दिया है । उसका उद्देश्य मात्र स्वाधीनता प्राप्ति था । क्योंकि फिलहाल स्वाधीनता के चरित्र पर विचार करना संभव नहीं था । ऐसा करने से राष्ट्रीय एकता के खंडित होने का भय था । पत्रिका ने साधारण जनता के स्वराज्य की बात ज़रूर की है उसने सामाजिक सुधारों[2] को राजनीतिक आन्दोलन से जोड़ देने पर बल दिया है । लेकिन साधारण जनता के स्वराज्य का चरित्र विश्लेषण नहीं किया है । ऐसा करने से यह बात स्पष्ट हो सकती है कि ब्रिटिश शासकों की तरह ही यहां का पूंजीपति जनता के स्वराज्य का शत्रु है और तब अपने ही देश की जनता के बीच यह विवाद का विषय बन

---

1. दिसम्बर 1928 के वि. भा. में प्रकाशित सम्पादकीय टिप्पणी, पृ0 828-35
2. दिसम्बर 1928 के वि. भा. में प्रकाशित हरिकृष्ण अग्रवाल का लेख

जाता जिससे ब्रिटिश सरकार लाभ उठा सकती थी । इसलिए " स्वराज्य की प्राप्ति का एक मात्र अवसर "[1] लेख में स्वामी सत्य देव परिव्राजक जी अंग्रेजी हकूमत की खात्मा करने और अपनी हुकूमत को खड़ा करने की बात करते हैं लेकिन अपनी हुकूमत कैसी होगी इस पर मौन रहते हैं ।

राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास और विशाल भारत

सन् 1920 राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में कई कारणों से महत्वपूर्ण है । सितम्बर 1920 में कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में महात्मा गांधी पूर्ण स्वराज्य और उसके तरीके यानी असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव रखते हैं जो 884 के मुकाबले 1886 मतों से पारित हो जाता है[2] । 1920 में कांग्रेस के स्वरूप में भी बदलाव आया । पहले जो कांग्रेस शहरी मध्य वर्गीय लोगों तक सीमित थी, वह अब गांव-गांव तक पहुंचने लगा । 1920 और उसके बाद होने वाले असहयोग आन्दोलन ने जो पूरे देश में व्यापक पैमाने पर चला, राष्ट्रीय एकता का अद्भुत परिचय दिया चाहे वह एकता खिलाफत आन्दोलन के कारण प्रदर्शित हुई हो या जालियांवाला बाग कांड के कारण । 1920 के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन में अहिंसा, सत्याग्रह और असहयोग का प्रवेश हुआ और पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन की गति इस दिशा में गतिवान हुई ।

" विशाल भारत " का सात साल बाद प्रकाशन प्रारंभ हुआ । इस अवधि में जो भी प्रमुख घटनाएं घटी, हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगे, 1925 में हिन्दू महासभा और कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना, 1922-23 में स्वराज्य पार्टी का उदय, 1928 में साइमन कमीशन का आगमन, इन घटनाओं का सीधा प्रभाव " विशाल भारत " पर पड़ा । एक तो पत्रिका को अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक निश्चित दिशा का चुनाव करना था और दूसरे कि यह दिशा ऐसी होनी चाहिए थी जो भारत की तमाम जनता को एक साथ लेकर चल सके । 1920 के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन न तो मात्र अंग्रेज नुमा लोगों तक सीमित रह गया था और न पूंजीपतियों

1. वि. भा., अगस्त, 1928
2. भारत का मुक्ति संग्राम - अयोध्या सिंह पृ. 430-31

23

के प्रतिनिधियों तक । पूरी जनता स्वाधीनता के सपने को साकार करने में लग गई । ऐसे समय में " विशाल भारत " का प्रकाशन जन-मानस की चेतना को जगाने, ब्रिटिश सरकार के खिलाफ सम्पूर्ण जनता को खड़ा करने के लिए हुआ । राष्ट्रीय आन्दोलन को गतिमान करने वाली कांग्रेस संस्था अग्रणी थी और महात्मा गांधी उसके नेता थे । इसलिए " विशाल भारत " के राजनीतिक विचारों का अध्ययन इसी संदर्भ में होना चाहिए ।

सितम्बर 1920 में कलकत्ता कांग्रेस ने असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव पास किया । अहिंसात्मक तरीके से पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति कांग्रेस का लक्ष्य बना । जनता में खादी, चरखा और सत्याग्रह का प्रचार प्रसार जोरों से होने लगा । उस संदर्भ में सत्याग्रह और अहिंसा के बारे में " विशाल भारत " के विचारों का अध्ययन अनिवार्य होगा ।

" विशाल भारत " के 1921 और 1930[1] शीर्षक से सम्पादकीय में सम्पादक लिखते हैं - " पाशविक बल से ब्रिटिश सरकार को भय नहीं होता । उसका कारण यह है कि सरकार के पास पाशविक बल की कमी नहीं है, पर इस बात से सरकार को अवश्य चिन्ता होती है कि संसार के सभ्य देशों की सहानुभूति भारत के साथ बढ़ रही है ।[2] इसी सिलसिले में सम्पादक ने "हिन्दू " के लन्दन स्थित विशेष संवाददाता के तार का उल्लेख किया है जिसमें मैकडोनल्ड के पास अमेरिकी पादरियों के हस्ताक्षर से युक्त एक तार आया जिसमें उन्होंने गांधी जी तथा भारतीय जनता के साथ समझौता कर लेने का अनुरोध किया । इस अंक के दूसरे सम्पादकीय " संग्राम कब तक "[3] में सम्पादक ने वर्तमान आन्दोलन के स्वस्थ चरित्र और ब्रिटिश सरकार की शंका की ओर संकेत करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि ब्रिटिश सरकार नरमदलीय नेताओं की खुशामद कर उन्हें अपने पक्ष में करना चाहती है जो संभव नहीं है ।

---

1. वि. भा. मई 1930, पृ0 704-5
2. वही पृ0 704-5
3. वही पृ0

24

अहिंसात्मक तरीके से स्वराज्य - प्राप्ति करने के दो कारण थे, जैसा कि उपर्युक्त सम्पादकीय से निष्कर्ष निकलता है। एक यह कि साम्राज्यवादी ताकतों को शिकस्त देने के लिए इससे कारगर हथियार और कोई नहीं हो सकता था क्योंकि उपनिवेश की जनता आधुनिक हथियारों से लैस, ब्रिटिश सरकार के सामने हथियारों की होड़ में खड़ी नहीं हो सकती थी। दूसरा कारण यह कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सत्याग्रह और अहिंसा का प्रचार था। "विशाल भारत" में प्रकाशित "सत्याग्रह संग्राम"[1] में पशुधर ने गांधी जी की गिरफ्तारी पर प्रो0 गिलबर्ट के विचारों का हवाला दिया है - "जो मनुष्य इन्द्रिय-सुखों रत्ती भर भी परवाह नहीं करता, जो धन-सम्पत्ति की तिलमात्र इच्छा नहीं रखता, जिसे प्रशंसा, बड़प्पन या शारीरिक सुखों की अणुमात्र चिन्ता नहीं है जिन्हें वह न्यायपूर्ण और उचित समझता है - ऐसे पुरुष के साथ व्यवहार करते हुए सत्ताधारी व्यक्तियों को सावधान रहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति बड़ा ही खतरनाक और कष्टप्रद शत्रु होता है क्योंकि आप उसके शरीर पर भले ही विजय प्राप्त कर लें - जो आसानी से की जा सकती है - आप उसकी आत्मा का क्षुद्रांश भी नहीं खरीद सकते।"[2] सत्याग्रह संग्राम की आस्था शारीरिक विजय में न होकर आत्मिक विजय में है। उसकी आस्था अंग्रेजों को शोषण का बोध कराने में है। ब्रिटिश सरकार की आत्मा पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता है न कि उसके शरीर पर क्योंकि शरीर पर विजय हासिल करना असंभव है और इस काम के लिए सत्याग्रह तथा अहिंसा से बड़ा अस्त्र कोई नहीं। यही गांधी जी के चिन्तन का सारांश है।

हिंसात्मक कार्य[3] शीर्षक सम्पादकीय में सम्पादक लिखते हैं "हम यह नहीं कहते कि हिंसा कभी जायज ही नहीं और न हम अहिंसावादियों के तमाम तर्कों से सहमत ही हैं, पर जिनकी आँखें हैं वे देख सकते हैं कि

---

1. वि भा., मई 1930, पृ0 585-90
2. वही पृ0 590
3. वि. भा., सितम्बर, 1930 पृ0 404

25

अहिंसात्मक आन्दोलन के कारण देश में अभूतपूर्व जागृति पैदा हो गई है और इसके कोई न्यायप्रिय आदमी इनकार नहीं कर सकता।[1] अहिंसा ने चूंकि देश की सम्पूर्ण जनता को संगठित किया, इसलिए स्वराज्य प्राप्ति के लिए इसे एक अचूक बाण समझा गया।

राष्ट्रीय प्रगति के हिंसा और अहिंसा का मार्ग[2] में श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय का कहना है - " स्वाधीनता के लिए हिंसा करने पर भी हिंसा ही है, वह मनुष्य का श्रेष्ठ गुण नहीं है।[3] अहिंसात्मक आन्दोलन सभ्य मानव - स्वभाव की उपज है, इसलिए भी अहिंसात्मक आन्दोलन का समर्थन किया गया। अपने एक अन्य लेख " हिंसात्मक और अहिंसात्मक संग्राम में कितना समय लगता है"[4] में चट्टोपाध्याय ने हिंसात्मक आन्दोलन को दो-तीन कि कारणों से गलत ठहराया है। हिंसात्मक आन्दोलन में युद्ध का फल अनिश्चित होता है। विपक्षी को काबू में कर लेने के बाद ही हिंसात्मक संग्राम में विजय मिलती है जबकि अहिंसात्मक आन्दोलन का उद्देश्य हृदय-परिवर्तन करना है। वे यहां तक कहते हैं - " यदि हमारी संकेतानुसार काम किया जाय - अंग्रेज यदि अहिंसात्मक आन्दोलन के विरुद्ध अहिंसात्मक उपाय से काम लें, तो उनकी कोई किसी तरह की नैतिक बदनामी नहीं कर सकेगा।[5] चट्टोपाध्याय " शासक वर्ग से आशा करते हैं कि उनकी सलाह मान ली जायगी और वे देश छोड़ देंगे। रामानन्द चट्टोपाध्याय और सम्पादक श्री बनारसी दास चतुर्वेदी के मतों का अन्तर भी देखा जा सकता है। श्री चट्टोपाध्याय अहिंसा के प्रति भाववादी दृष्टिकोण रखते हैं जबकि चतुर्वेदी जी का दृष्टिकोण बिल्कुल व्यवहारिक है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीति को मध्य वर्ग और उच्च वर्ग से उठाकर गांव की जनता के

---

1. वि. मा. सितम्बर 1930 पृ0 404
2. वही पृ0 279-82
3. वही पृ0 281
4. वही पृ0 276-78
5. वही पृ0 277

26 बीच छा रहा किया । इसके पहले की कांग्रेस क्या थी, इसका अनुमान उन्हीं के अनुभवों के आधार पर लगाया जा सकता है । 1901 में गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे । वे दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की दशा के संबंध में एक प्रस्ताव कांग्रेस में उपस्थित करना चाहते थे । उनकी बातचीत फीरोजशाह मेहता और दिनशाजी वाचा से भी हुई । उन्होंने प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया किन्तु उस पर विचार विमर्श नहीं हुआ । रात के ग्यारह बजे प्रस्ताव रखा गया । लोगों ने फीरोजशाह मेहता से पूछा कि प्रस्ताव क्या उन्हें पसन्द है तो उन्होंने कहा ' हां ' और वह सर्वसम्मति से पास हो गया । उस समय के कांग्रेस अधिवेशनों के बारे में गांधी जी का अनुभव था कि स्वयं सेवक और नेताओं में कोई तालमेल नहीं था । सभी एक दूसरे पर हुक्म चलाते थे । छुआछूत की प्रथा का कसकर पालन होता था । अधिवेशन में सारी भाषण अंग्रेजी में होते थे ।[1] ' विशाल भारत ' के समक्ष कांग्रेस का यह चरित्र और महात्मा गांधी का व्यक्तित्व था जिसमें संगठन को चलाने की अद्भुत क्षमता थी । इस कारण भी इसने अहिंसात्मक आन्दोलन का समर्थन किया । दूसरा कारण यह था कि राष्ट्रीय धरातल पर गांधी जी का अहिंसात्मक आन्दोलन चल रहा था । अहिंसा को अलौकिक या परामानवीय दृष्टि से देखने का दृष्टिकोण ' विशाल भारत ' का नहीं है यद्यपि इसने आत्मिक विजय को भी एक कारण बताया है किन्तु, इसका उद्देश्य अहिंसा के व्यावहारिक पक्षों पर विचार करते हुए उसे जनता के बीच फैलाना है ।

पत्रिका ने अहिंसात्मक आन्दोलन के प्रति पूरी दृढ़ता से अपनी आस्था व्यक्त की है । दृढ़ता का एक उदाहरण पत्रिका में ही मौजूद है । ' राष्ट्रीय आन्दोलन '[2] शीर्षक से शंकर सहाय सक्सेना का एक लेख ' तरुण भारत ' स्तंभ से प्रकाशित हुआ है । चौरी चौरा कांड के उपरान्त लेखक से किसी युवक ने ताना कसा जो गांधी जी के कदम के विरुद्ध एक करारा व्यंग्य था । लेखक की प्रतिक्रिया थी कि उन्हें क्या मालूम कि उनके नेतृत्व

---

1. जीवतराम भगवानदास कृपलानी - महात्मा गांधी जीवन और चिन्तन, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, सितम्बर, 1978 के आधार पर ।
2. वि. भा. जनवरी 1929, पृ0 96-98

-27

चल रहे आन्दोलन में एक " हृदयहीन नरकंकालों "[2] का समुदाय का कार्य कर रहा है । इसलिए लेखक का कहना है कि यह आन्दोलन का दोष नहीं है, यह " दासता - मुक्त विचारों "[2] से मुक्त हृदयों का दोष है । बारदोली कांग्रेस (12 फरवरी, 1922) के निर्णय ने नेताओं को स्तब्ध कर दिया था । उस समय के युवकों में इसकी कितनी गहरी प्रतिक्रिया हुई थी, यह तो उपरोक्त लेख से ही पता चलता है । चौरी चौरा की घटना पर यंग इंडिया " में जंग बहादुर सिंह का एक पत्र प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने चौरी चौरा के किसानों पर हुई पुलिस ज्यादतियों का वर्णन किया है । महात्मा गांधी ने 9-3-22 के " यंग इंडिया " में इसका उत्तर दिया, जो इस प्रकार है -

" चौरीचौरा के जन-समूह का अपराध कुछ भी क्या न रहा हो, विभिन्न संवाददाताओं ने पुलिस के जिन अत्याचारों की खबरें भेजी हैं वे अत्याचार सर्वथा अन्यायपूर्ण हैं । लोगों के पास इनका यही इलाज है कि इन अत्याचारों के बावजूद वे पुलिस से प्रेम करें और उसे गलत रास्ते से हटायें ।[4] गांधी जी द्वारा बारदोली कांग्रेस में आन्दोलन को स्थगित करने के निर्णय लेने के पीछे एक कारण यह था कि वे सरकार को आतंकारी बदला लेने का मौका नहीं देना चाहते थे । इसका उल्लेख श्री कृपलानी ने भी " महात्मा गांधी, जीवन और चिन्तन " में किया है । जंगबहादुर सिंह को दिए गए उत्तर से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि गांधी जी को पुलिस से विशेष प्रेम था और वे स्वाधीनता आन्दोलन को गौण स्थान देते थे । अगर यह बात होती तब गांधी जी रचनात्मक कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए देश की जनता से अनुरोध नहीं करते । उनका रचनात्मक कार्यक्रम राजनीतिक आन्दोलन से अलग नहीं था । 11 जनवरी, 1928 को गांधी जी को लिखे गए पत्र में पं० जवाहर लाल नेहरू

---

1. वि. भा. जनवरी 1929, (लेखक द्वारा प्रयुक्त शब्दावली)
2. वही
3. सम्पूर्ण गांधी वांग्मय, भाग 23 भारत सरकार द्वारा प्रकाशित पृ0 28-29
4. वही पृ0 28-29

ने लिखा - " हमारा खादी का काम प्राय: राजनीति से अलग है और हमारे खादी के कार्यकर्ताओं में ऐसी मनोवृत्ति विकसित हो रही है कि वे अपने सीमित कार्यक्षेत्र के बाहर और किसी बात से संबंध नहीं रखना चाहते। यह उनके उस काम के लिए ठीक हो सकता है किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में उनसे कुछ आशा नहीं की जा सकती।[1] नमक सत्याग्रह जब प्रारंभ हुआ, उस समय कृपलानी, जो खादी ग्रामोद्योग के एक प्रतिष्ठान के संचालक थे, गांधी जी से सलाह लेने गए। उनका कहना था कि उन लोगों ने खादी में पांच लाख रुपए फंसाए हैं और हमारे कार्यकर्ताओं को उससे मजदूरी मिलती है, आन्दोलन में चले जाने पर यह सब नष्ट हो जायगा। इस पर गांधी जी का उत्तर था - " तुम क्या बात कर रहे हो? इससे क्या यदि तुम्हारी सारी दुकानें बन्द कर दी जायें और सारा रुपया और माल जब्त कर लिया जाय? क्या तुम यह समझते हो कि स्वतंत्रता के बाद केवल पांच लाख रुपए खादी के काम में लगाए जायेंगे? सारा देश खादी पहनेगा। यह मेरा स्वप्न है। यह लड़ाई अन्तिम लड़ाई है।[2] गांधी जी के लिए स्वराज्य का अधिक महत्त्व था या खादी का? वे खादी तथा अन्य रचनात्मक कार्यक्रमों के द्वारा जनता को निरन्तर जागरूक बनाए रखना चाहते थे। यह नहीं कि थोड़ी देर के लिए जनता में देश प्रेम का भाव आए और पुन: वह ठंडा पड़ जाये। बारदोली कांग्रेस का निर्णय गांधी जी की इसी समझ का परिणाम था।

" विशाल भारत " द्वारा चौरीचौरा कांड पर व्यक्त की गई प्रतिक्रिया और बारदोली कांग्रेस के समर्थन के पीछे यही समझ काम कर रही थी। खादी आन्दोलन और स्वराज्य शीर्षक सम्पादकीय में सम्पादक लिखते हैं - " खादी का प्रचार और मोटे सूत के कपड़े का

---

1. जीवतराम भगवान दास कृपलानी, महात्मा गांधी : जीवन और चिन्तन, पृ० 111
2. -- वही -- पृ० 112

-29

प्रचार नहीं है, उसके भीतर आत्मावलम्बन, भ्रातृभाव और साम्यवाद के भाव छिपे हुए हैं। प्रत्यक्ष में खादी का महत्त्व भले न दीख पड़े पर दर-असल खादी आन्दोलन एक क्रांतिकारी आन्दोलन है क्योंकि यह साधारण जनता की मनोवृत्ति को एकदम बदल देता है और यही क्रांति की पहली मंजिल है।[2] हालांकि बारदोली कांग्रेस का निर्णय महात्मा जी की इस दृष्टि को व्यक्त करता है कि वे किसानों और मजदूरों के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाना नहीं चाहते और यही दृष्टि ' विशाल भारत ' की भी रही। फिर भी इस दृष्टि में रचनात्मक कार्यक्रम और राजनैतिक आन्दोलन को एक साथ धीरे - धीरे आगे ले चलने की समझ कार्यरत थी।

बारदोली के फैसले के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन की गति मद्धिम पड़ गई। अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति की बैठक दिल्ली में हुई। डा० बी० एस० मुंजे ने गांधी जी के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रखा। इसका उद्देश्य बारदोली के उस प्रस्ताव को रद्द करना था जिसमें सविनय अवज्ञा आन्दोलन को वापस लेने और रचनात्मक कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने की बात कही गई थी। किंतु - बारदोली में पारित प्रस्ताव को समर्थन मिला। फिर भी, देश के प्रमुख नेताओं जैसे देशबंधु, चितरंजन दास, जवाहरलाल नेहरू, में इस प्रस्ताव के खिलाफ गहरा रोष था और यह रोष गया कांग्रेस अधिवेशन में व्यक्त हुआ।

गया के इस अधिवेशन में जिसकी अध्यक्षता देशबंधु चितरंजन दास कर रहे थे, कौंसिल में प्रवेश संबंधी प्रस्ताव आया। मोती लाल नेहरू तथा अयंगार ने दास का समर्थन किया जिन्होंने कौंसिल में प्रवेश की पैरवी की थी और वल्लभ भाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद ने इसका विरोध किया था। इसके पक्ष

---

1. वि० भा० श्रावण (अगस्त) 1928 पृ० 125-30
2. वही पृ० 130
3. जे. बी. कृपलानी - महात्मा गांधी जीवन और चिन्तन पृ० भारत सरकार द्वारा प्रकाशित, सितम्बर, 1978।

30

में 880 और विपक्ष में 1740 वोट आए ।[1] किंतु कौंसिल के प्रवेश की तरफदारी करने वाले जिन्हें परिवर्तनवादी कहा जाता था, रुके नहीं और उन्होंने 1923 में इलाहाबाद में अपने समर्थकों का अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाकर एक नई पार्टी स्वराज्य पार्टी की स्थापना कर ली ।[2] इसमें निर्णय हुआ कि स्वराज्य पार्टी कांग्रेस के अन्दर एक नई पार्टी होगी जो विधान सभाओं और विधान परिषदों के लिए चुनाव लड़ेगी । सभाओं और परिषदों में स्वराज्य पार्टी के प्रतिनिधि यह मांग करेंगे कि ब्रिटिश शासक राष्ट्रीय समस्याओं को एक निश्चित तिथि के अन्तर्गत हल कर दें । विधान सभा में जाने के बाद स्वराज्य पार्टी असहयोग के बदले सहयोग करने लगी और 1925 तक इसके नेता श्री चित्तरंजनदास को सरकार के हृदय में परिवर्तन के संकेत दिखाई पड़ने लगे ।[3]

' विशाल भारत ' ने बारदोली प्रस्ताव का समर्थन किया ताकि धीरे - धीरे राष्ट्रीय आन्दोलन रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा जनता को जागरुक बनाये । इस बीच स्वराज्य पार्टी के बनने से कांग्रेस में जो फूट पैदा हुई वह कहीं-न-कहीं ब्रिटिश सरकार के लिए लाभदायक भी सिद्ध हुई । ' विशाल भारत ' ने अपने सम्पादकीय ' स्वराज्य पार्टी का उद्धार और कौंसिल प्रवेश ' में स्वराज्य पार्टी की आलोचना की है । उसने लिखा - ' रचनात्मक कार्यों में जिनका मन नहीं लगता और बैठे ठाले जिन्हें कुछ -न - कुछ करना ही चाहिए, उनके लिए कौंसिल प्रवेश वक्त काटने का एक अच्छा साधन है ।[5] सम्पादक आगे लिखते हैं - ' यदि स्वराज्य पार्टी निश्चित रूप से साम्यवाद के सिद्धान्तों को अपनाकर कौंसिल में आने का प्रयत्न करती, तो कुछ बात भी थी, क्योंकि तब इस बहाने साधारण जनता के सम्मुख साम्यवाद के सिद्धान्तों के रखने

---

1. अयोध्या सिंह - भारत का मुक्ति संग्राम, मैकमिलन, पृ. 453
2. -- वही पृ. 453
3. रजनी पाम दत्त - आज का भारत, पृ08, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
4. वि. भा. मई 1934 पृ0 333 - 334 ।

-21

का ही अवसर प्राप्त होता ; धनाढ्य, वकीलों तथा डाक्टरों की पार्टी साम्यवाद के सिद्धान्तों को ग्रहण करेगी, इसकी आशा करना ही व्यर्थ है।'[1] ठीक इसी टिप्पणी के बाद ' युवकों से अपील '[2] शीर्षक सम्पादकीय में सम्पादक ने 29 अप्रैल 1934 के स्टेट्समैन ' में मि. जे. एन गुप्त , एम.एल.सी. की प्रकाशित अपील की चर्चा की है जिसमें उन्होंने बंगाल के नवयुवकों से हिंसात्मक उपायों को तिलांजलि देकर रचनात्मक कार्यक्रम को हाथ में लेने की बात कही है।

स्वराज्य पार्टी का उदय चूंकि राष्ट्रीय आन्दोलन के संगठित स्वरूप पर एक प्रहार था, इसलिए ' विशाल भारत ' ने इसका विरोध किया है। पत्रिका ने स्वराज्य पार्टी का चरित्र-विश्लेषण भी किया है और लिखा है कि यह पार्टी पूंजीपतियों की पार्टी है, साम्यवाद की मंजिल तक पहुंचने की इससे आशा करना व्यर्थ है। रजनी पाम दत्त ने इस पार्टी के बारे में लिखा है - ' स्वराज्य पार्टी प्रगतिशील बुर्जुआ वर्ग की पार्टी थी जो संसदवाद की ढालू जमीन पर साम्राज्यवाद के सक्रिय गठबंधन करने की दिशा में आगे बढ़ रही थी।'[4] इसे प्रगतिशील इस अर्थ में कहा गया कि इसने बारदोली कांग्रेस के निर्णय का विरोध किया। ' विशाल भारत ' ने कांग्रेस के अंदर की फूट को अच्छी तरह पहचान लिया था और समझ लिया था कि उसका एक तबका बारदोली कांग्रेस के निर्णय के विरोध के बहाने साम्राज्यवाद के साथ गठबंधन करेगा। ' विशाल भारत ' ने स्वराज पार्टी का चरित्र विश्लेषण किया है और यह मत भी रखा है कि स्वराजियों द्वारा साम्यवाद[5] का प्रचार एक ढकोसला है। यहां तक कि इसने ' युवकों से अपील '

---

1. वि. भा. मई 1934 पृ0 333
2. वि. भा. मई 1934 पृ0 633-35
3. वही पृ0 634-35
4. रजनीपाम दत्त - आज का भारत, पृ0 363
5. वि. भा. मई 1934, पृ0 634-35

सम्पादकीय में यह लिखा - "साम्यवादी आन्दोलन के लिए तो घनश्यामदास जी बिड़ला या सर राजेन्द्रनाथ मुकर्जी में कोई अन्तर न होना चाहिए।[1] किन्तु, सम्पादक ने बारदोली कांग्रेस के अधिवेशन में पारित प्रस्ताव के उस पहलू पर कोई टिप्पणी नहीं की है जिसमें महात्मा गांधी ने किसानों से लगान देने का अनुरोध किया था। गांधी जी चाहते थे कि उनके आन्दोलन में जमीन्दार, किसान और सारे वर्ग के लोग शरीक हों। 'विशाल भारत' की भी यही मंशा थी।

'विशाल भारत' की दृष्टि में राष्ट्रीय आन्दोलन का एक ठोस और संगठित स्वरूप ~~अखिल भारतीय,~~ का खड़ा होना आवश्यक था। बारदोली कांग्रेस के निर्णय के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन की गति थोड़ी मन्द पड़ी और जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू महासभा के उदय और कई साम्प्रदायिक दंगों में प्रतिफलित हुआ। वस्तुत: असहयोग आन्दोलन के द्वारा जनता को संगठित होकर ब्रिटिश शासन के खिलाफ लड़ने की अचूक दवा मिली थी और बाद में पांच वर्षों में हुए साम्प्रदायिक दंगे इसके द्योतक हैं कि उस समय जनता आन्दोलन चाह रही थी। ऐसा न होने पर कोई न कोई दुष्परिणाम निकलना स्वाभाविक था।

महात्मा गांधी, जब केरल समेत दक्षिण का दौरा समाप्त कर वाइसराय के निमंत्रण पर दिल्ली आए, तो वहां इर्विन ने गांधी जी को एक स्मरण पत्र दिया। जिसमें सर साइमन की अध्यक्षता में ब्रिटिश संसद द्वारा नियुक्त एक कमीशन के भारत आने और भारत में द्वैध शासन के कार्य पर रिपोर्ट देने तथा भावी संवैधानिक सुधारों के सुझाव देने की घोषणा थी। गांधी जी ने वाइसराय से पूछा कि क्या सिर्फ इसी बात को बताने के लिए वे दो हजार किलोमीटर दूर से बुलाए गए थे। इर्विन के हां कहने पर गांधी जी ने कहा कि यह काम तो दो पैसे के पोस्टकार्ड से ही सकता था।

---

1. वि. भा. मई 1934, पृ0 635

33

इस घोषणा से कांग्रेस पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और 1927 के मद्रास कांग्रेस अधिवेशन ने साइमन कमीशन का बहिष्कार करने का निर्णय लिया और जनता से इसके विरुद्ध सामूहिक प्रदर्शन करने तथा इससे किसी प्रकार के सहयोग करने के विरुद्ध जनता में प्रचार करने की अपील की। इस अधिवेशन में " पूर्ण स्वराज्य " का प्रस्ताव भी पास हुआ और कांग्रेस के अन्दर " इंडिपेंडेंस लीग " की स्थापना हुई। इस लीग के प्रमुख संगठकों में सर्वश्री निवास आयंगार, सुभाष चन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू प्रमुख थे। गांधी जी पूर्ण स्वराज्य की मांग से सहमत नहीं थे। इसी अधिवेशन में नेहरू समिति, मोती लाल नेहरू की अध्यक्षता में बनी जिसका काम भारत का संविधान तैयार करना था। पूर्ण स्वराज्य और औपनिवेशिक स्वराज्य पर मतभेद होने के बावजूद 1928 के कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रस्ताव पास हो गया।

" विशाल भारत " ने सर्वदलीय सम्मेलन और नेहरू समिति की रिपोर्ट पर विचार किया है।[1] " सर्वदल सम्मेलन की रिपोर्ट " लखनऊ सर्वदल सम्मेलन का निर्णय "[2] शीर्षक सम्पादकीय विचारों में पत्रिका की निम्नलिखित स्थापनाएं रही हैं --

(i) ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग पर मोती लाल नेहरू और तेज बहादुर सप्रू के मतभेद के बावजूद कांग्रेस द्वारा यह मांग स्वीकार कर ली गई। विशाल भारत के लिए यह सौभाग्य की बात थी।

(ii) जातिगत चुनाव के बदले सम्मिलित चुनाव करवाने की मांग भी स्वागत योग्य है।

कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में जवाहर लाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस आदि पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास कराने के पक्ष में थे जबकि महात्मा गांधी औपनिवेशिक स्वराज्य चाहते थे। कृपलानी ने महात्मा गांधी के

---

1. वि. भा., सितम्बर 1928, पृ0 268-69
2. वही अक्तूबर, 1928, पृ0 402

के औपनिवेशिक स्वराज्य के पीछे यह तर्क दिया है कि यह एक ' सुदूर भविष्य के निर्दिष्ट गन्तव्य की दृष्टि से न माना जाकर फौरन उठाये जाने वाले कदम के रूप में[1] था । यह सत्य है कि महात्मा गांधी राष्ट्रीय आन्दोलन की अनुकूलता या उसकी दृढ़ता को बनाये रखने के लिए ऐसा चाहते थे किन्तु, जब जनता पूरे मन में हो और अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए शासक वर्ग से हर प्रकार की लड़ाई करने को तैयार हो ऐसे समय में दृढ़ता हमेशा जनता के साथ चलने और उसकी शक्ति को आगे बढ़ाने में होती । ' विशाल भारत ' ने औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग का समर्थन इसलिए किया है कि वह आन्दोलन को एक सुगठित और अनुकूल रूप में देखना चाहता है और महात्मा गांधी उस समय जनता के एक मात्र नेता थे । इसलिए सम्पादक ने गांधी जी के प्रति अपनी अटूट आस्था व्यक्त की है । कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन (1929) में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित हुआ और 26 जनवरी, 1930 को स्वाधीनता दिवस मनाया गया । महात्मा गांधी ने 30 जनवरी के ' यंग इंडिया ' में ग्यारह सूत्री प्रस्ताव रखा । ये सूत्र थे --

(1) रुपये का विनिमय दर घटाकर 1शिलिंग 4 पेंस करना,

(2) लगान में पचास फीसदी की कमी करना,

(3) सिविल सर्विस की तनख्वाहें आधी करना,

(4) रक्षात्मक शुल्क लगाया जाना और विदेशी कपड़ों का आयात नियंत्रित किया जाना,

(5) तटीय यातायात रक्षा विधेयक पास किया जाना,

(6) फौजी खर्च में पचासफीसदी कम करना,

(7) सी. आई.डी. विभाग खत्म करना या उसे सार्वजनिक नियंत्रण में रखना,

(8) हिन्दुस्तानियों को आत्म रक्षा करने के लिए आग्नेय अस्त्र रखने के लिए लाइसेंस दिया जाना,

(9) नमक पर सरकारी इजारेदारी और नमक टैक्स को खत्म करना,

---

1. कृपलानी - महात्मागांधी : जीवन और चिन्तन, पृ0 112

35

(10) नशीली वस्तुओं का विक्रय बन्द करना,

(11) उन सभी राजनीतिक कैदियों को कैद से मुक्ति मिलनी चाहिए जो हत्या करने या हत्या के प्रयत्न के लिए गिरफ्तार नहीं हुए हैं। 14 फरवरी 1930 को साबरमती में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई और इस बैठक में नमक कानून को तोड़ने के लिए नमक सत्याग्रह करने का प्रस्ताव पारित हुआ। 12 मार्च 1930 को गांधी जी की डंडी यात्रा शुरू हुई। जनता का उन्हें प्रबल समर्थन मिला। इसी बीच गांधी जी और कई कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। 1931 में पुन: उन्हें रिहा कर दिया गया और 5 मार्च 1931 को गांधी इरविन पैक्ट हुआ। इस पैक्ट में सविनय अवज्ञा आन्दोलन को बन्द करने, सरकार के दमन की कार्यवाही को बन्द करने, राजनैतिक कैदियों को रिहाकरने, विदेशी माल के बायकाट की स्वतंत्रता, विदेशी कपड़ों के खिलाफ दल प्रयोग या हिंसात्मक ढंग से पिकेटिंग को बन्द करने का प्रस्ताव सम्मिलित था।[1]

'विशाल भारत के सम्पादक श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने 'संधि'[2] शीर्षक से सम्पादकीय टिप्पणी लिखी जिसमें उन्होंने यह लिखा - 'यद्यपि संधि हो गई है, पर अभी बहुत कुछ कार्य करने के लिए पड़ा हुआ है और तब इसे क्षणिक संधि ही कहना चाहिए। स्थायी संधि तो तब होगी, जब भारत के शासन-विधान का प्रश्न दोनों दलों द्वारा स्वीकृत हो जायगा। यद्यपि स्वतंत्रता का यह अन्तिम संग्राम नहीं है - मातृभूमि की पूर्ण स्वाधीनता के लिए भारतीयों को अभी कम एक बार संग्राम और करना पड़ेगा, फिर भी देश की जो आध्यात्मिक विजय हुई है, उसका महत्व कम नहीं है। संसार के इतिहास में यह पहला दृष्टान्त है जबकि अहिंसात्मक उपायों के सामने

---

1. (क) अयोध्या सिंह-भारत का मुक्ति संग्राम पृ. 575-76
   ~~(ख) ए. आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि।~~
2. वि. भा., फरवरी 1931, पृ0 300-3

महान से महान पाशविक शक्तियों को इतना झुकना पड़ा है।[1] 'विशाल भारत' की दृष्टि में गांधी इर्विन समझौता स्वाधीनता की मंजिल तक पहुंचने के रास्ते की एक सफलता थी। यह सफलता आशा की किरण थी, यद्यपि मंजिल बहुत दूर थी और उस मंजिल को पाने के लिए कठिन परिश्रम की आवश्यकता थी। सम्पादक की दृष्टि में स्वराज्य-प्राप्ति दोनों दलों यानी ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस के सहयोग से संभव थी। इन सब को देखते हुए संधि के आध्यात्मिक महत्व को रेखांकित किया गया था। ध्यातव्य है कि अहिंसा के बारे रामानन्द चैटर्जी और बनारसीदास चतुर्वेदी में जो अन्तर था, वह भाववादी और व्यावहारिक का था जिस पर पहले विचार किया जा चुका है। यह अन्तर धीरे - धीरे प्रकाशक के दृष्टिकोण में विलीन होता गया। प्रकाशक श्री रामानन्द चैटर्जी राय में हिंसा असभ्य मानव समाज की देन है, अहिंसा को स्पर्श कर पश्चिम की सभ्यता की मिट्टी - पलीद हो गई है और इस तरह से भारत को गांधी जी के माध्यम से आध्यात्मिक विजय हासिल हुई है। यहां भी गांधी- इर्विन संधि के प्रति 'विशाल भारत' की भाववादी रुझान है। शायद उस समय एक अजीब अन्तर्विरोध का सामना पत्रिका को करना पड़ा होगा। सम्पादक का नजरिया, जो व्यावहारिक है, वही पत्रिका के चरित्र का भी निर्धारण करेगा, प्रकाशक का दृष्टिया नहीं। जबकि यहां स्थिति प्रतिकूल है।

जे0 बी0 कृपलानी की राय में समझौते में भारत के हित में संरक्षण स्वीकार किया गया है। वे लिखते हैं - " इस लिए गांधी जी ने इन संरक्षणों की आवश्यकता स्वीकार करते हुए यह भी कहा कि यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि ये संरक्षण भारत की जनता के हित में है।[2] सम्पादक महोदय ने उसी सम्पादकीय में पत्रकारों के सम्मुख गांधी जी द्वारा दिए गए भाषण का एक अंश उद्धृत किया है - " शक्तिशाली परमात्मा को धन्यवाद है

---

1. वि. भा., फरवरी, 1931 पृ0 300-2
2. महात्मा गांधी जीवन और चिन्तन, पृ0 135

37

जिसकी कृपा से यह समझौता हुआ, और देश उन कष्टों से बच गया - चाहे अभी थोड़े दिनों के लिए ही सही, वैसे मैं तो आशा यही करता हूं कि भविष्य के लिए भी - जो संधि - चर्चा के विफल होने पर हमारे देश को सहन करनी पड़ती और वे वर्तमान कष्टों से भी गुने होते।" [1] कृपलानी ने जनता के संरक्षण में इस संधि को हितकारी बताया है। किन्तु आश्चर्य है कि ब्रिटिश - शासन की शोषणकारी नीतियों की खुले आम निन्दा करते हुए बेटजी ने यह स्थापना दी है कि ब्रिटिश सरकार अपने उद्देश्य की साधने के लिए जनता पर राज कर रही है अर्थात् बेटजी महोदय के अनुसार ब्रिटिश सरकार का हित भारतीय जनता का हित नहीं हो सकता। गांधी-इर्विन संधि ने कैसा आविष्कार किया कि ब्रिटिश सरकार का हित जनता का हित हो गया। जिस प्रकार यह अन्तर्विरोध कृपलानी जैसे गांधीवादियों और पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन में रहा, विशाल भारत भी इसका शिकार बना।

चौरी-चौरा और गांधी इर्विन संधि से कांग्रेस के चरित्र की स्पष्ट झलक मिलती है। कांग्रेस के लिए स्वतंत्रता के युद्ध में भारतीय समाज के सभी तबकों का होना अनिवार्य था। चौरी - चौरा के बाद बारदोली कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने किसानों से जमींदारों को लगान देने का अनुरोध किया। 'विशाल भारत' ने कांग्रेस का आंख मूंद कर समर्थन किया। हांलाकि आगे के पन्नों में पत्रिका कांग्रेस की भी कलई खोलने से बाज नहीं आई है।

किन्तु, देश में दिनों-दिन ही रही मजदूरों की हड़ताल से भारतीय पूंजीपतियों और ब्रिटिश सरकार को उनकी जागरूकता का बोध हो चुका था। 1928 के कलकत्ता कांग्रेस - अधिवेशन में मोती लाल नेहरू ने अपने अध्यक्षीय भाषण में मजदूरों की हड़ताल की चर्चा करते हुए यह कहा कि

---

1. महात्मा गांधी जीवन और चिन्तन, पृ0 135

38

मजदूरों का हड़ताल में कांग्रेस का हस्तक्षेप आवश्यक है। वर्तमान स्थिति में ही रही मजदूर आन्दोलनों की कांग्रेस नजरन्दाज न ही कर सकती।[1] साम्यवादी विचार धारा से प्रभावित बंगाल के लोगों ने 1926 में मजदूर और किसान पार्टी का संगठन किया। पहले उन्होंने इसका नाम लेबर स्वराज्य पार्टी रखा था, फरवरी, 1926 से कृष्ण नगर (नादिया) में मजदूरों और किसानों का पहला सम्मेलन बुलाकर इसका नाम किसान मजदूर पार्टी[2] रखा। इसी सम्मेलन में मजदूर, किसान और मध्यम वर्ग के निम्न तबकों की एक एक राजनीतिक पार्टी बनाने की भी घोषणा की गई साथ ही राजनितिक आन्दोलन से उन्हें जोड़ने पर भी बल दिया गया। इस तरह भारत की राजनीतिक पृष्ठभूमि में मजदूर और किसानों की भूमिका धीरे - धीरे महत्वपूर्ण होती जा रही थी।

' विशाल भारत ' में किसान मजदूर संगठन[3] शीर्षक से सम्पादकीय टिप्पणी प्रकाशित हुई है जिसमें सम्पादक ने पूँजीपतियों और किसानों तथा मजदूरों के संघर्ष को आवश्यक बताया है परन्तु दूसरे - साथ - साथ सम्पादक ने यह भी सम्मति दी है कि " हम इस बात को मानते है कि वर्तमान स्थिति में, जबकि देश विदेशियों की पराधीनता के बंधनों को तोड़ने में लगा हुआ है, उपर्युक्त संघर्ष हमारे लिए विघातक हो सकता है, पर हम उन आदमियों में से नहीं हैं, जो समझते हैं कि केन्द्रीय सरकार में जिम्मेदारी मिल जाने से भारतीय स्वाधीनता का प्रश्न हल हो जायगा।[4] ' विशाल भारत ' की दृष्टि में स्वाधीनता का स्थान इन सबसे आगे है। मजदूरों और किसानों का आन्दोलन अन्ततः भारत के पूंजीपतियों का मंडाफोड़ करेगा, और यह कार्य देश में तीव्र गति से चल रहे स्वाधीनता - युद्ध के लिए सहायक होगा।

---

1. शंकर घोष - इंडियन नेशनल कांग्रेस, पृ0 255
2. सोहन सिंह - मेरठ षड्यंत्र केस ; फिरंगी सरकार कटघरे में पापुलस पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, दिसम्बर 1980। पृ0 29
3. वि. भा., मार्च 1932, पृ0 407-408
4. वही पृ0 408

युद्ध की आग में यह ठंडे पानी का काम करेगा। इसलिए अभी फिलहाल राष्ट्रीय आन्दोलन में देश की समस्त जनता को एक साथ लेकर चलने की आवश्यकता है। जिस 'विशाल भारत' ने भारतीय मनीषा के सफल सार्थी के राजनीतिक और आर्थिक पक्षों का विस्तार से वर्णन करते हुए उसके राजनीतिक महत्व को आंकने का प्रयास किया है उसी ने मजदूरों और किसानों को उनके आर्थिक हित से अलग कर उन्हें स्वाधीनता की आग में झोंकने का प्रयास भी किया है। पहले स्वाधीनता, तब तुम्हारी मुक्ति की बात होगी, यह दृष्टि रखने वाली पत्रिका मजदूरों और किसानों के वर्ग हितों की बलि दे देती है। यह अंध राष्ट्रवादिता का लक्षण है।

दूसरा उदाहरण भी देखें। नेटाल में ~~प्रथम~~ प्रथम भारतीय मजदूर कांग्रेस पर विशाल भारत में प्रवासी भारतीय स्तंभ में 'नेटाल में प्रथम भारतीय मजदूर कांग्रेस' शीर्षक से भी भवानी दयाल संन्यासी की एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। इसमें यह बताया गया है कि भारतीय मजदूरों के संगठित होने का कारण गोरे मजदूरों का जबर्दस्त संगठन रहा है। लेखक के अनुसार दक्षिण अफ्रीका के शासन का सूत्र राष्ट्रवादियों और मजदूरों के हाथों में है। दक्षिण अफ्रीका में हब्शियों की भी यूनियन है जिसे इंगलैण्ड के मजदूर संघ ने सहायता भी दी है। भारतीय मजदूरों के संगठित होने का कारण इंगलैण्ड सरकार की छत्र छाया में पल रहे मजदूरों का संगठन है, मजदूर चाहे कहीं के भी हों, वह शोषित हैं क्योंकि शोषण राष्ट्रीय लक्षण नहीं है, इस शोषण के खिलाफ आवाज उठनी चाहिए न कि इंगलैण्ड के मजदूर संगठन के खिलाफ। अगर इंगलैण्ड के मजदूर सरकार के वफादार हैं, उन्हें उनकी गलत वफादारी का एहसास कराना है। 'विशाल भारत' की यह दृष्टि नहीं है।

ब्ला. ई. लेनिन ने पूंजीवाद के अन्तर्गत राष्ट्रीय प्रश्न की दो प्रमुख प्रवृत्तियां बतलाई हैं। पहली प्रवृत्ति राष्ट्रीय जीवन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन की जागृति है यानी समस्त राष्ट्रीय उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष और राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना। ये पहली प्रवृत्ति, लेनिन के अनुसार राष्ट्रीय मंडी के पैदा होने से संबद्ध है। राष्ट्रीय मंडी के पैदा होने के लिए यह जरूरी है कि जनता के बोलचाल की भाषा हो, सीमित दायरों से मुक्त होकर

---

1. वि. भा. जनवरी, 1929 पृ0 103-8
2. समाजवाद तथा पूंजीवाद के अन्तर्गत राष्ट्रीय प्रश्न - अलेक्सान्द्र जेवेलेव, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978

40

मालों का विनिमय हो। इन सब बातों के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय चेतना विकसित होती है। दूसरी प्रवृत्ति राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हो जाने के बाद परिलक्षित होती है। राष्ट्रीय राज्य बन जाने के बाद पूंजीवाद का अपना राष्ट्रीय आधार कम पड़ने लगता है। शोषण के द्वारा अर्जित की गई पूंजी को लगाने के लिए मंडियों और सस्ती श्रम शक्ति की जरूरत पड़ती है और इस समस्या का समाधान वह पराये देशों में घुसकर कमजोर लोगों को अपने अधीन बनाकर करता है।

इंगलैण्ड की सरकार दक्षिण अफ्रीका के गोरे-मजदूरों की राष्ट्रीयता का अमृत पिलाकर अपने वर्ग का हित साध रही थी। वहां के भारतीय मजदूरों का संगठन इंगलैण्ड सरकार के वर्ग-हित के खिलाफ खड़ा नहीं हुआ बल्कि गोरे मजदूरों के संगठन के खिलाफ यानी एक शोषित ने दूसरे शोषित के खिलाफ झंडा उठाया। अब उसका झंडा उठाना दूसरे देश यानी भारत के पूंजी पतियों के हक में था। बात कुछ ऐसी ही है कि जैसे दो राजा अपने-अपने हाथी को लड़ने मैदान में लड़ने के लिए छोड़ देते हैं और खुद लड़ाई का मजा लेते हैं। भवानी दयाल संन्यासी ने इसी लेख में भारतीय ठेकेदारों का गोरे ठेकेदारों द्वारा शोषण होने का भी जिक्र किया है। ये वही भारतीय ठेकेदार हैं जो पूंजी के संग्रह के लिए दक्षिण अफ्रीका गए और वहां के लोगों का शोषण किया।

इस अंध राष्ट्रवादिता के कारण मजदूर आन्दोलन के प्रति 'विशाल भारत' का दृष्टिकोण कुछ हद तक सुधारवादी रहा है हालांकि 'विशाल भारत' ने लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर स्वामी सहजानन्द जी के सभापतित्व में गठित अखिल भारतीय किसान सम्मेलन[1] के प्रस्तावों का समर्थन किया है जिसमें यह कहा गया है कि किसान आन्दोलन का उद्देश्य आर्थिक शोषण से उन्हें पूर्णतया मुक्त करना है। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करना है। इतना ही नहीं, पत्रिका ने सोवियत रूस की सामाजिक आर्थिक उन्नति पर कई लेख छापे, हैं जैसे, विल्फ्रेड वैलाक का निबंध सोवियत रूस के किसान[2]

---

1. वि. सम्पादकीय - अखिल भारतीय किसान सम्मेलन, मई 1936, पृ0 631-32
2. वि. भा. अप्रैल 1929, पृ0 505-9

विल्फ्रेड वैलाक का ही निबंध रूस के विरुद्ध आन्दोलन [1] साम्यवाद पर पत्रिका ने बहस का मंच तैयार किया है और साम्यवादी आन्दोलन के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है, फिर भी गांधीवाद और कांग्रेस के प्रति अटूट आस्था होने के कारण " विशाल भारत " का दृष्टिकोण सुधारवादी ही रहा है ।

विल्फ्रेड वैलाक का निबंध " ब्रिटेन के मजदूर-दल के उद्देश्य [2] प्रकाशित हुआ है जिसमें लेखक महोदय ने ब्रिटेन मजदूर-दल के निम्नलिखित उद्देश्य बताये -

(1) मजदूर-दल का उद्देश्य सामाजिक एवं औद्योगिक संगठन में ऐसा परिवर्तन करना है, जिससे मजदूरों को आजादी मिले । आर्थिक आजादी का मतलब है मजदूरों को उसके उत्पादन में उचित भाग मिलना ।

(2) शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने के बाद मजदूर दल का उद्देश्य मजदूरों की स्थिति को सुधारना उन्हें आर्थिक सुविधाएं प्रदान करना और आध्यात्मिक स्थिति को सुधारना होगा ।

(3) मजदूर दल का उद्देश्य उद्योग-धंधों को म्युनिस्पैलिटियों और सरकार के नियंत्रण में करना है क्योंकि दल की यह धारणा है कि उद्योग धंधों को व्यक्तिगत आधिपत्य से कर सार्वजनिक बनाया गया । दल के वार्षिक कान्फ्रेंस में " मजदूर और जाति " नाम से एक पैम्फलेट निकाला गया जिसमे इ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कुछ प्रमुख उपाय बताये गए जिनमें ट्रेड यूनियन एक्ट को रद्द करना, भूमि पर सार्वजनिक अधिकार कायम करना इत्यादि प्रमुख हैं । लेखक सार्वजनिक नियंत्रण के पक्ष में हैं लेकिन साथ ही उनकी आध्यात्मिक स्थिति में सुधार भी इसका एक उद्देश्य है । " विशाल भारत " ने दूसरे पर ज्यादा बल दिया है । नेटाल में हुए प्रथम भारतीय मजदूर संगठन की सभा में, जिसकी चर्चा पिछले पृष्ठ में हुई है, ईश्वरोपासना के बाद श्री निवास शास्त्री का भाषण हुआ, अपने भाषण में उन्होंने समान धंधा का समान वेतन का सिद्धान्त स्वीकार किया । उन्होंने शिल्पी

---

1. वि. भा. जून 1929 पृ० 705-9
2. वि. भा. जनवरी 1929 पृ० 12-15

42

और बढ़ई शिल्पी मजदूरों की दशा सुधारने पर बल दिया। मजदूर-दलों में रंगभेद के समावेश का भी उल्लेख किया। मजदूर संगठन के निर्वाचित प्रधान एडवोकेट अलबर्ट क्रिस्टोफर ने कहा कि जब भारतीयों से युरोपियन रहन - सहन अख्तियार करने के लिए कहा जाता है तो यह भी आवश्यक है कि उनको सब प्रकार की सुविधाएं दी जाएं। उन्होंने युरोपीय श्रमजीवियों तथा स्वामियों से अनुरोध किया कि भारतीय मजदूरों के साथ उनकी योग्यता के अनुकूल व्यवहार करें। उसी सभा में सरकारी प्रतिनिधियों ने यह स्वीकार किया कि सरकार एक पेशे वालों का एक संघ बनाना चाहती है जबकि गोरे मजदूर इस पद्धति से सहमत नहीं हैं। इसलिए दूसरा उपाय युरोपीयन और भारतीय मजदूर संगठन बनाने का ही है। लेखक ने भारतीय ठेकेदारों को गोरे ठेकेदारों द्वारा हेय दृष्टि से देखे जाने का भी उल्लेख किया है। लेखक श्री भवानी दयाल सन्यासी के अनुसार इन्हीं सब कारणों से नेटाल वर्कर्स कांग्रेस की स्थापना हुई।

इस सभा में सरकारी प्रतिनिधि भी शामिल थे। सभा का प्रारंभ ईश्वरोपासना से हुआ अर्थात् मजदूरों की बिगड़ती हालत के सुधार के लिए ईश्वर से भी करबद्ध प्रार्थना की जाय। पूंजीपतियों से प्रार्थना करना तो भाग्य में बदा ही है, प्रजातांत्रिक ईश्वर से भी प्रार्थना की जाय, जो समान भाव से देखता है। एक तरफ पूंजीपतियों से प्रार्थना दूसरी तरफ ईश्वर से प्रार्थना और बिचारा मजदूर। श्री शंकर सहाय सक्सेना ने भारत में मजदूर आन्दोलन[1] लेख लिखकर यह स्थापना दी है कि भारत में भिन्न भिन्न राजनैतिक दलों के मजदूर संगठन ने मजदूर आन्दोलन की प्रगति को कुन्द किया है। भारत में मजदूर आन्दोलन का इतिहास प्रस्तुत करते हुए लेखक ने यह स्वीकार किया है कि सोवियत रूस की औद्योगिक क्रांति ने सब देशों के सर्वहारा वर्ग में आशा का संचार किया। सोवियत रूस की

---

1. वि. भा. मार्च 1939, पृ0 241-49

3

क्रांति से प्रभावित होकर भारतवर्ष के कुछ लोगों ने कम्युनिस्ट पार्टी का गठन किया। यहां की कम्युनिष्ट पार्टी ने भारतीय मजदूरों का संगठन बनाया। 1921 तक भारतीय मजदूर आन्दोलन सुधारवादी मार्ग पर अग्रसर होता रहा, लेखक उसे स्वीकार करते हैं। किंतु, भविष्य की राजनैतिक घटनाओं ने मजदूर संगठन के टुकड़े - टुकड़े कर दिये। जैसे, 1931 के कलकता वाले ट्रेड युनियन कांग्रेस के अधिवेशन में मतभेद हुवा। मतभेद का मुख्य आधार दो विचार धाराओं का टकार था। एक विचार धारा पूंजीवाद को नष्ट करने पर तुली हुई थी, दूसरी विचार धारा उससे समझौता करना चाह रही थी। ठीक इसके पहले 1929 के नागपुर अधिवेशन में जिनेवा अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ से संबंध रखने पर मतभेद हुवा। लेखक के अनुसार रुस के राष्ट्र संघ का सदस्य बन जाने के बाद जिनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ से यहां के कम्युनिस्टों को संबंध बनाए रखने में कोई आपत्ति नहीं हुई। एक बार फिर ट्रेड युनियन कांग्रेस में कांग्रेस के नरम दलीय, कांग्रेस सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट पार्टी के लोग शामिल हुए।

राजनैतिक उतार - चढ़ाव के कारण मजदूर आन्दोलन अपने ध्येय को पूरा करने में असफल रहा। इसलिए लेखक ने अहमदाबाद टेक्स्टाइल्स लेबर एसोसिएशन की कार्य प्रणाली की भूरि - भूरि प्रशंसा की है। श्रीमती अनुसूया साराबाई और श्री बैंकर अहमदाबाद के मजदूरों का नेतृत्व करते थे। लेखक के अनुसार महात्मा गांधी के सिद्धान्तों पर चलने वाली यह संस्था न तो रजिस्टर्ड थी और न कांग्रेस से ही इसका कोई संबंध था। एसोसिएशन की कार्यनीति यह थी कि इसे कई विभागों में बांट दिया गया। जैसे, एक विभाग मजदूरों की दैनिक शिकायतों को दूर करने का था। दूसरा विभाग समझौता करने-कराने का। इसके लिए एक स्थायी समझौता बोर्ड (Arbitration Board) बना है जिसमें मजदूर तथा मिल ओनर्स एसोसिएशन के प्रतिनिधि होते थे। तीसरा विभाग मजदूरों को आर्थिक सहायता देने का था। चौथा विभाग मजदूरों के काम करते समय चोट लग जाने पर क्षति-पूर्ति दिलवाने का था। पांचवां विभाग सेविंग्स बैंक का। छठा विभाग मजदूरों के स्वास्थ्य

की देख-भाल का और सातवां शिक्षा विभाग था । पूरे एसोसिएशन का उद्देश्य, लेखक के अनुसार जहां तक संभव हो सके संघर्ष को रोक कर समझौता कराने का था ।

राजनैतिक उतार-चढ़ाव से मजदूर आन्दोलन की प्रगति मन्द हुई, इसमें आंशिक सच्चाई है, किंतु इस राजनैतिक उतार-चढ़ाव के कारणों की खोज भी होनी चाहिए । कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी, दोनों के राजनैतिक उद्देश्यों को एक साथ देखने से इस तरह के निष्कर्ष के आने की संभावना बनती है । किंतु क्या दोनों के उद्देश्य एक थे ? स्वयं लेखक ने इसे स्वीकार नहीं किया है ।

अखिल भारतीय मजदूर किसान पार्टी का प्रथम सम्मेलन 21 दिसम्बर 1928 को कलकत्ते में हुआ जिसकी अध्यक्षता सोहन सिंह जोश ने की थी ।[1] इस सम्मेलन में ब्रिटेन की एकीकृत इंजीनियरिंग वर्कर्स युनियन के एक प्रमुख नेता और ग्रेट ब्रिटेन कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य ब्रैडली ने अपने भाषण में कहा कि साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आन्दोलन को तेज करने की जरूरत है । उन्होंने सम्मेलन को ब्रिटेन और युरोप के क्रांतिकारी मजदूर वर्ग की ताकतों के समर्थन और एकजुटता का आश्वासन दिया । इस सम्मेलन को साम्राज्य विरोधी लीग, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल और दूसरे संगठनों के बिरादराना संदेश भी मिले । इसी सम्मेलन में यह भी कहा गया कि भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साइमन कमीशन की नियुक्ति के मसले पर एक समझौता हीन रुख अख्तियार किया, स्वाधीनता संबंधी प्रस्ताव का समर्थन किया । किंतु बाद में सर्वदलीय सम्मेलन में पूंजीपति वर्ग के वाम पंथी तबके को जनता और अपने वर्ग के बीच चुनाव करना पड़ा तब उसने नेहरू रिपोर्ट में साम्राज्यवाद से समझौता करने का प्रस्ताव भी जोड़ दिया ।[2] अखिल भारतीय ट्रेड

---

1. सोहन सिंह जोश - मेरठ षड्यंत्र केस : फिरंगी सरकार कटघरे में, पृ० 53-58

2. - वही - पृ० 55

युनियन के आठवें अधिवेशन (25 नवम्बर 1927) में अध्यक्ष दीवान चमनलाल ने शान्तिपूर्ण तरीके से और मानव जाति के लाभ के लिए मजदूरों को एक आदर्श के झण्डे के नीचे आने का आह्वान किया ।[1] उसी सम्मेलन में कम्युनिस्टों की पहल से सोवियत संघ की 10 वीं साल गिरह पर बधाई दिये जाने का प्रस्ताव भी पारित हुआ । कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी समाज के किस वर्ग का नेतृत्व कर रही थी, यह उपर्युक्त सम्मेलनों की रिपोर्ट से साफ है ।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अहमदाबाद में मजदूरों की हड़ताल हुई । इसकी नेता श्रीमती अनुसूयाबाई थी जिन्हें अपने सगे भाई मिल मालिक भी अम्बालाल साराभाई से लड़ना था । गांधी जी ने मजदूरों के सामने हड़ताल की जो शर्तें रखी, वे इस प्रकार है ।

(1) किसी भी दशा में शान्ति भंग न होने दी जाय ।

(2) जो काम पर जाना चाहें उसके साथ जोर-जबर्दस्ती न की जाय ।

(3) मजदूर भिक्षा का अन्न न खायें ।

(4) हड़ताल कितनी ही लंबी क्यों न चले, वे डटे रहें और अपने पास पैसा न रहे तो दूसरी मजदूरी करके खाने योग्य कमा लें ।[2]

महात्मा गांधी, कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी मजदूर आन्दोलन के बारे में विचारों में लेखक श्री सक्सेना कोई फर्क नज़र नहीं आता सिवाय इसके कि पूंजीवाद को बचाए रखते हुए और इसके बीच से मध्य मार्ग निकाल लेने के । इसी अंक में राम नारायण यादवेन्द्र बी.ए.एल.एल.बी. का लेख 'भारत में राजनीतिक दल[3]' प्रकाशित हुआ है जिसमें कांग्रेस के घोषणा पत्र का उल्लेख हुआ है इसमें मजदूरों के बारे में कहा गया है --

---

1. सोहन सिंह जोश - मेरठ षड्यंत्र केस : फिरंगी सरकार कटघरे में - पृ0 64-65

2. सं0 सेठ गोविन्द दास और ओम प्रकाश शर्मा - स्कंध ग्यारह : महामानव का प्रयाण : सत्यं शिवम् सुन्दरम् - पृ0 125, गांधी युग पुराण, प्रकाशन संस्थान, 1970

3. वि. भा. मार्च 1939, पृ0 258-64

" मिलों के आसपास मजदूरों के रहने तथा गुजर बसर का उचित प्रबंध हो । उनके काम करने के घंटे और काम करने के नियम भारत की आर्थिक दशा पर ध्यान रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर हों । बुढ़ापा, बीमारी और बेकारी से उत्पन्न आर्थिक संकटों से उनकी रक्षा की जाय और उनको अपने संघ बनाने तथा अपने हितों की रक्षा के साधन भी पूरी स्वतंत्रता से दी जाय । मिल मालिकों और मजदूरों के बीच झगड़ों को सुलझाने की समुचित व्यवस्था हो ।[1] लेख के अनुसार यह घोषणा पत्र 1934 के बम्बई कांग्रेस का है ।

कांग्रेस का दृष्टिकोण पूर्णतः सुधारवादी कहा जाय कि पूंजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए था । महात्मा गांधी और कांग्रेस ने मजदूरों के शोषण पर आक्रमण न कर के वर्तमान में उनकी बिगड़ती हुई दशा में सुधार लाने की बात कही । यह तो भारत के पूंजीपतियों के हितों से कहीं टकरा नहीं रही थी । जबकि कम्युनिस्ट पार्टी का प्रहार मजदूरों के शोषण पर था । इसलिए जो राजनैतिक उतार-चढ़ाव आए, वह राजनैतिक विचारधाराओं के संघर्ष के कारण आए । राजनैतिक विचारधाराओं के संघर्ष में मजदूर आन्दोलन की शिरकत का होना स्वाभाविक था क्योंकि वह टकराव मजदूरों के हितों से संबद्ध था । ' विशाल भारत ' ने राजनैतिक उतार चढ़ाव की पृष्ठ- भूमिका में प्रवृत्त इस बारीकी को भुलाकर सीधे - सीधे यह स्थापना दी है कि राजनीति ही गलत है, इससे दूर रहने के लिए मजदूरों को गांधीवादी विचारों का अनुसरण करना चाहिए । यह विचार पूंजीपति वर्ग के हितों को साधता है । मजदूरों को राजनैतिक चेतना की आवश्यकता नहीं उनमें सुधार की आवश्यकता है । इस सुधार के पीछे कार्यरत राजनीति सक्सेना के लेख से स्पष्ट होती है । ' विशाल भारत ' के सुधारवादी रवैये को अपनाने का कारण राष्ट्रीय आन्दोलन को विभाजित होने से बचाना था ।

---

1. वि. भा. मार्च 1939 पृ0 260

अंग्रेजों के खिलाफ राष्ट्रीय एकता की पत्थर की दीवार की तरह खड़ी रहे ।

सक्सेना का लेख अज्ञेय के सम्पादन में प्रकाशित हुआ है । उनके सम्पादन में भी पत्रिका का सुधारवादी रुख रहा लेकिन कम्युनिस्ट विरोधी भी । जिस अंक में सक्सेना का लेख प्रकाशित हुआ है उसी अंक में श्रीमती कमला सोगानी बी . ए. का लेख रूस में स्त्रियों का जीवन[1] महिला मंडल स्तंभ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है । इस लेख में लेखिका ने रूस में क्रांति आने के बाद वहां की स्त्रियों की दशा में हुए सुधारों का वर्णन किया है । ध्यान रहे कि रूस के प्रति सम्पादक अज्ञेय की दृष्टि भी सुधारवादी थी । उन्होंने उत्पादन - संबंधों में हुए परिवर्तन पर लेख प्रकाशित नहीं किये क्योंकि स्त्रियों में सुधार होने का कारण उत्पादन - संबंधों में परिवर्तन था । सक्सेना ने अपने लेख में कम्युनिस्ट विरोधी कदम उठाया है । जबकि बनारसी दास चतुर्वेदी ने कांग्रेस की सीमाओं में रहते हुए साम्यवाद पर बहस का आयोजन किया है, जिस पर आगे चर्चा होगी, रूस की क्रांति की आवश्यकता पर लेख छापे हैं । मिला जुलाकर वर्तमान परिस्थितियों में साम्यवाद की आवश्यकता को उन्होंने महसूस किया है । इसलिए मजदूर आन्दोलन के प्रति उनका सुधारवादी नजरिया था किन्तु, वह कम्युनिस्ट विरोधी नहीं था । ये अन्तर चतुर्वेदी जी और अज्ञेय जी के दृष्टिकोण में दिखाई पड़ता है । चतुर्वेदी जी का सुधारवादी दृष्टि का कारण राष्ट्रीय आन्दोलन में सबों को एक साथ लेकर चलने का था, जो उनकी सीमा थी जब कि अज्ञेय जी की सुधारवादी दृष्टि का कारण साम्यवाद का विरोध करना था ।

यह ध्यान रहे कि जैसे - जैसे कांग्रेस के भीतर वामपंथी विचारधारा हावी होती गई, ' विशाल भारत ' की दृष्टि में भी परिवर्तन आता गया । विशाल भारत ने साम्यवाद से संबंधित कई लेख छापे और पाठकों को साम्यवादी विचारधारा से अवगत कराया ।

---

1. वि. भा. मार्च 1939 पृ० 303-6

48

" बिहार साम्यवादी पार्टी " शीर्षक के सम्पादकीय में सम्पादक ने साम्यवादी पार्टी के विधान तथा कार्यक्रमों की एक पुस्तिका का उल्लेख किया है । सम्पादक के अनुसार इस पुस्तिका में कहा गया है कि " यह प्राय: माना जा चुका है कि पूंजी तन्त्र की वजह से वर्तमान समाज में जो बुराइयां है और परस्पर विरोधी बातें पैदा हो गई है, उनको दूर करने का यह एक मात्र साधन है ।....... वर्तमान गरीबी, बेकारी, आर्थिक और राजनीतिक संकट, सामाजिक अन्याय, शोषण, संघर्ष आदि इसी पूंजीतन्त्र-व्यवस्था के कारण ही उत्पन्न हुए हैं । इसने सभ्यता की सरीद - बिक्री की चीज बना दी है .....[1] । सम्पादक के मत में आज संसार में सिद्धान्त रूप में दो ही रास्ते हैं, एक कि कल कारखानों को नष्ट करके समाज को छोटे छोटे ग्राम-उद्योगों की अवस्था में पहुंचा दिया और दूसरा कि वर्तमान पूंजी - प्रधान व्यवस्था को हटा कर साम्यवादी व्यवस्था कायम की जाय । सम्पादक के अनुसार पहला सिद्धान्त अव्यावहारिक है । उनके शब्दों में " साम्यवाद केवल सामाजिक विकास के स्वाभाविक पथ का ही अनुसरण नहीं करता क्योंकि समाज की उत्पादक शक्ति को यह और भी पुष्ट करना चाहता है, बल्कि साथ-ही-साथ इसे यह लाभ भी प्राप्त है कि पूंजीतन्त्र के गर्भ में ही श्रमिक वर्ग और उसके साथी शोषित किसान तथा निम्न मध्य वर्ग का भी निर्माण हो जाता है जो साम्यवादी लक्ष्य की प्राप्ति के निश्चित साधन है ।[3] यद्यपि सम्पादक साम्यवाद के सिद्धान्तों के विषय में पूरी तरह से स्पष्ट नहीं है फिर भी साम्यवाद की ताकत किसके हाथों में है और किस बल बूते पर साम्यवाद आ सकता है, सम्पादक को इसका पता है । यह समझ इस हद तक स्पष्ट है कि वे बेकारी और गरीबी का ग्राम उद्योगों में इलाज न ढूंढ कर साम्यवाद में ढूंढते हैं । पूंजीवाद की बढ़ती हुई शक्ति से सम्पादक अनभिज्ञ नहीं हैं और यह शक्ति संसार को विनाश की ओर ले जायगी, इससे भी वे वाकिफ है । इसलिए इस विनाशकारी शक्ति का सामना

---

1. वि. मा. जुलाई 1934 पृ0 105-30
2. वही पृ0 109
3. वही पृ0 109-110

49

साम्यवाद ही कर सकता है क्योंकि साम्यवाद शोषित का हथियार है, शोषक का नहीं।

एक अन्य सम्पादकीय "समाजवाद का विरोध" में सम्पादक वशिष्ठ जी ने आगरे के पत्र "सैनिक" में एक केठा ताजा ग्रेजुएट" नाम लिखी पाठे कृष्णदत्त पाठी की आलोचना की है। पाठीवाल के अनुसार "दूसरी पार्टी जो अपने को किसानों की भलाई का ठेकेदार समझती है, वह है कांग्रेस समाजवादी पार्टी। .... समाजवादी और साम्राज्यवादी दोनों ही अपने-अपने मतलब के किसानों को अपनी राह में लेना चाहते हैं। .... समाजवादी यह चाहते हैं कि किसान हमारी तरफ आ जायें, तो हम नौकरशाही की मजदूरशाही कायम कर दें। दोनों में एक भी यह नहीं चाहता कि किसान जमीन के मालिक बनें। दोनों में से एक भी नहीं चाहता कि हिन्दुस्तान में किसान राज्य कायम हो .... ।"[2] सम्पादक की प्रतिक्रिया इस प्रकार है - "सच बात यह दीखती है कि कांग्रेस के नेतागण किसान - आन्दोलन के संबंध में अपने को एक अजीब परिस्थिति में पाते हैं। एक ओर तो वे यह अनुभव करते हैं कि उनकी शक्ति किसान पर ही आश्रित है और उसके हितैषी होने का दावा करते हैं, दूसरी ओर वे जमीन्दारों का पल्ला भी नहीं छोड़ सकते। इसी दुविधा के कारण हरिपुरा में किसान सभाओं के बारे में गोल मोल प्रस्ताव पास हुआ था।"[3] यहां "विशाल भारत" कांग्रेस की पूंछ नहीं बना, इसलिए मौका मिलते ही उसने तुरत कांग्रेस का वर्ग - विश्लेषण करना शुरू कर दिया। वह कांग्रेस को चौरी-चौरा कांड के बाद बारदोली कांग्रेस में दम घुटता पाती है और जिसे "विशाल भारत" का वरद हस्त भी प्राप्त हुआ, अब ज्यादा दिनों तक जनता को इस भुलावे में नहीं रख सकती कि वह किसानों और मजदूरों के दुःख को हरण करने वाली पार्टी है। गरीबों का दुःख दूर करने वाली इस पार्टी

---

1. वि. भा. मई 1938 पृ0 595-96
2. वही पृ0 595
3. वही पृ0 595

को अपनी कहा जाय कि सिद्धांतकार महात्मा गांधी की भी पत्रिका ने अवसर पाते बेनकाब किया है। 'भारत में समाजवाद'[1] लेख में रामनारायण यादवेन्दु जी का कष्ट है कि कांग्रेस पार्टी पर समाजवादी विचारों का प्रभाव बहुत थोड़ा है। उन्होंने जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' के एक उद्धरण का उल्लेख किया है - 'लेकिन पिछले साल मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि गांधी जी ताल्लुकेदारी प्रथा को भी उस प्रथा की हैसियत से पसन्द करते हैं और चाहते हैं कि वह जारी रहे। कानपुर में जुलाई सन् 1934 में उन्होंने कहा था - 'किसानों और जमींदारों, दोनों में हृदय-परिवर्तन द्वारा बेहतर[2] ताल्लुकात पैदा किये जा सकते हैं। अगर यह हो जाय तो दोनों आपस में मेल के साथ अमन चैन से रह सकते हैं। मैं तो कभी भी ताल्लुकेदारी या जमींदारी प्रथा को दूर करने के पक्ष में नहीं रहा। और जो लोग यह समझते हैं कि वह रद्द ही की जानी चाहिए, वे खुद अपनी बात को नहीं समझते।'[3] इसी संबंध में लेखक ने सरदार वल्लभभाई पटेल के विचारों का भी उल्लेख किया है जो उन्होंने मद्रास कांग्रेस हाउस में मंत्रिमंडल के कार्यों पर भाषण देते हुए व्यक्त किया था। श्री पटेल ने कांग्रेस के समझौतावादी स्वभाव का समर्थन करते हुए वर्ग-संघर्ष की आलोचना की।

यहां कांग्रेस का वर्ग - चरित्र और भी स्पष्ट होता है। कांग्रेस के सिद्धान्त सब के कल्याण के लिए थे, ऐसा वह दावा करती आई। किंतु सर्वकल्याणकारी विचारधारा जमींदारों और पूंजीपतियों का ही कल्याण करती है। गांधी जी के उपरोक्त विचार से यह व्यक्त होता है। कारण कि पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजी का सकेन्द्रण कुछ लोगों के हाथों में रहता है और बाकी लोग पूंजी-उत्पादन में लगे रहते हैं। इस तरह पूंजी का भोक्ता

---

1. वि. भा. मई 1938, पृ0 537-41
2. यहां बेहतर होना चाहिए, यह छपाई दोष है।
3. वि. भा. मई 1938, पृ0 540-41

पूंजी-उत्पादन करने वाला नहीं होता, पूंजी संग्रह करने वाला होता है । भोक्ता और उत्पादनकर्ता के बीच की खाई को पाटने के लिए एक ही उपाय हो सकता है कि उत्पादन कर्ता भी भोक्ता बने यानी उत्पादन का समान वितरण । गांधी जी की कल्याणकारी विचारधारा समान वितरण पर अपना ठप्पा नहीं लगाती बल्कि उसे ताक में दाब कर हृदय-परिवर्तन का राग आलापती है । इसलिए ' विशाल भारत ' की नगर में यह राग आलापना पूंजीपति वर्ग के हित को पूरा करता है । ' विशाल भारत ' की नज़र में सबका कल्याण इस व्यवस्था में संभव नहीं है, बहुमत का कल्याण संभव है और वह बहुमत शोषित है, इसलिए कल्याण इसी का होना चाहिए और यह साम्यवाद से ही संभव है ।

' विशाल भारत ' के मंच से बारदोली कांग्रेस, सत्याग्रह और अहिंसा और गांधी-इर्विन संधि को खुला समर्थन मिलता है अपने प्रकाशन के प्रारंभिक दौर में पत्रिका ने हर कीमत पर कांग्रेस का समर्थन किया है किन्तु, 1934-35 के बाद पत्रिका को कांग्रेस की असलियत का धीरे-धीरे अहसास होने लगा । 1935 में राज्यों में कांग्रेस की सरकार बनी । उसकी गतिविधियों पर ' विशाल भारत ' ने गहरी चिन्ता व्यक्त की है । इन गतिविधियों पर अगर एक नज़र डाली जाये तो कांग्रेस का विस्तृत और साफ चित्र देखने को मिलेगा और तब साम्यवाद की ओर पत्रिका का झुकाव का कारण भी समझ में आ जायगा । ' ~~कांग्रेसी सरकारें - टिप्पर~~ । '

कांग्रेसी सरकार टिप्पर सम्पादकीय[1] में सम्पादक ने कांग्रेसी सरकार के चार महीनों का लेखा जोखा प्रस्तुत किया है । सम्पादक के अनुसार बम्बई के प्रधान मंत्री किसानों के कर्जों की वसूली रोक देने के लिए तैयार नहीं हैं । मद्रास के प्रधानमंत्री ने इस संबंध में पेश किया हुआ प्रस्ताव वापस ले लिया । इतना ही नहीं बिहार के प्रधान मंत्री ने जमीन्दारों को आश्वासन दिया है कि जमीन्दारी प्रथा को उठा

---

1. वि. भा. अगस्त 1937 पृ0 620-24

देना कांग्रेस का उद्देश्य नहीं है। यह कांग्रेस का चरित्र है। ध्यातव्य है कि बारदोली कांग्रेस में ही गांधी जी ने किसानों से जमीन्दारों को लगान देने का अनुरोध किया था, वह कांग्रेस सरकार में आने के बाद किसानों को कर्ज से कैसे मुक्ति दिला सकती है। पहले भी वह जमीन्दारों के लिए काम कर रही थी और आज भी कर रही है। तुर्रा तो इस बात का है कि इन जमींदार-भक्ति के बावजूद कांग्रेस के नेता देश-भक्ति का नारा देते हैं। ईश्वर जाने, उनकी देश-भक्ति किसके लिए है और किस खिलाफ है। उपरोक्त सम्पादकीय में ही कांग्रेस की देश-भक्ति के खोखलेपन का भी सम्पादक ने उल्लेख किया है। मद्रास में बाटलीवाला राष्ट्रद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर लिये गए। राजद्रोह के अभियोग के लिए सरकार की अनुमति आवश्यक है, यानी बाटलीवाला की गिरफ्तारी न्यायमंत्री राजगोपालाचारी की अनुमति से हुई। कांग्रेस की देश-भक्ति अंग्रेजी दरबार की भक्ति थी जो यहां के पूंजीपति वर्ग की आकांक्षाओं को पूरा करने वाली एक मात्र राजनीतिक संस्था थी। " अंग्रेज पूंजीपति और भारतीय पूंजीपति अपनी देश-भक्ति को भूल कर पूंजीवाद की छाया में शोषित वर्ग के खिलाफ फलने-फूलने लगे। जो 'विशाल भारत' कभी गोरे ठेकेदारों द्वारा भारतीय ठेकेदारों के शोषण की बात करता था, उसी 'विशाल भारत' ने करवट ली। उसी सम्पादकीय विचार में आगे कहा गया है कि बम्बई के गृह-सचिव श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने शोलापुर में दफा 144 जारी किया। वहां पर जरायम पेशा जातियों की बस्ती है जिसमें ये लोग साधारण मजदूरों की तरह काम करते हुए भी कैदियों की तरह रखे जाते हैं उन्हें वोट देने का अधिकार मिल गया है लेकिन नागरिक के अधिकार नहीं मिले हैं। इन्हीं अधिकारों की मांग के पुरस्कार स्वरूप 144 धारा मजदूरों को मिली। सम्पादक ने ऐंग्लो-इंडियन पत्र में छपी रिपोर्ट का एक अंश उद्धृत किया है - " ये लोग (स्थानीय मजदूर और सोशलिस्ट) यहां के वासियों को जाग्रत एकिर[1] अपनी आजादी के लिए

---

1. यहां केवल 'कर' होना चाहिए। यह छपाई दोष है।

लड़ने की प्रेरित करते थे। मीटिंगों में जिन बातों पर जोर दिया जाता था, उनमें एक बात यह भी थी कि खानों में काम करने वालों की बहुत कम मजदूरी मिलती है। यहां के लोगों को कहा जाता था कि वे युनियन बनायें और कांग्रेस में भरती हों।..... बस्ती के अधिकारी मिल- मालिकों को नाराज़ नहीं कर सकते, क्योंकि बस्ती के अधिकांश लोगों को वे काम में लगाते हैं। युनियन की कार्यवाई चलाने देने से मिल-मालिक विरोधी हो जायेंगे।[1] कांग्रेस मजदूरों के खिलाफ थी। वह यहां के पूंजीपतियों को असंतुष्ट नहीं करना चाह रही थी, चाहती भी कैसे ? क्योंकि पूंजीपतियों की आकांक्षाओं को प्रतिफलित करने वाली पार्टी थी। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में इस पार्टी की देश-भक्ति शोषक के खिलाफ नहीं थी बल्कि ब्रिटेन के पूंजीपतियों के खिलाफ थी। पूंजीपतियों की प्रतियोगिता में मजदूर पिस रहा था। पूंजीपतियों की स्वार्थ सिद्धि के लिए महात्मा जी ने मजदूर एसोसिएशन बनाया, सुधारवादी रास्ता अपनाया। 'विशाल भारत' ने भी सुधारवादी रास्ता अपनाया। किंतु दोनों के सुधारवादी दृष्टि में अन्तर है। 'विशाल भारत' मौका पाते ही गांधी जी और कांग्रेस पर आक्रमण करता है जबकि गांधी जी और उनकी कांग्रेस सरकार बनाते ही जमींदारी प्रथा की वकालत करने लगते हैं, मिल मालिकों के हिमायतकार होने लगते हैं और तब भी देश के लिए बलिदान हो जाने का आह्वान करते हैं। निश्चयतः 'विशाल भारत' की आत्मा में कोई मैल नहीं था। जब कि महात्मा गांधी और कांग्रेस की आत्मा ही मैली थी। इसलिए यह मैली आत्मा धवलता का बोध कराने के लिए अहिंसा, अहिंसा चिल्लाती थी। अहिंसावाद क्या है[2] सम्पादकीय टिप्पणी के सम्पादक का कहना है कि अहिंसा के संबंध में कांग्रेस की नीति गोलमाल की रही है। आज जबकि देश में हिंसावाद का प्रचार नहीं हो रहा है, इस दशा में मिनिस्ट्री या कार्यकारिणी का यह कहना 'देश में अहिंसात्मक वातावरण नहीं है,[3] क्या अर्थ रखता है ?

1. वि. मा. अगस्त 1937 पृ0 621
2. वि. मा. जनवरी 1938, पृ0 146-147
3. वही पृ0 147

सम्पादक के शब्दों में - ' अहिंसात्मकता की कमी के कारण आप कैदियों को छुड़ाने से विमुख होते हैं, दमन - कानून रद्द करने से विमुख होते हैं; नागरिक अधिकार दिलाने से विमुख होते हैं, फेडरेशन का विरोध करने से विमुख होते हैं तब है आप किस लिए ? क्यों नहीं आप राजनीतिक क्षेत्र से विमुख होकर एक आत्मा-शुद्धि सभा स्थापित कर लेते, जहां आप नेति - धौति - बस्ति आदि यौगिक साधनों द्वारा राष्ट्र के शरीर से यह मैल निकाल लें? '[1] सत्ता में आने के बाद कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के पथ का अनुसरण करने लगी । ब्रिटिश सरकार भी जनता को मुलायम में रखने के लिए कहती थी, जनता अशिक्षित है, महारानी विक्टोरिया से उसकी अशिक्षा और दरिद्रता नहीं देखी गई । कांग्रेस की सरकार भी जनता में अहिंसा का संदेश देती है इस आरोप के साथ कि उनके बीच हिंसा का प्रचार हो रहा है । मिल मालिकों के सर के बाल नुचते हुए वह देख नहीं सकती क्योंकि वे उनकी नाक के बाल हैं । इसलिए जनता को इसका निशाना बनाया जाय । तात्पर्य यह है कि शासक वर्ग जो शोषण पर अवलम्बित हो, उसका चरित्र एक होता है चाहे वह शासक वर्ग इंगलैण्ड का हो या हिन्दुस्तान का ।

कांग्रेस जनता को इसी तरह के भुलावे में रखती है । ' हरिपुरा कांग्रेस '[2] सम्पादकीय टिप्पणी इसका प्रमाण है । इस कांग्रेस में देशी राज्यों के बारे में यह प्रस्ताव पास हुआ कि कांग्रेस देशी राज्यों को अविभाज्य अंग मानती है । वह देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन और नागरिक स्वतंत्रता का समर्थन करती है लेकिन वर्तमान परिस्थिति में रियासतों में आन्दोलन करना उचित नहीं समझती । बात कुछ ऐसी ही है जैसे कांग्रेस समाजवाद चाहती है, पूंजी पर सार्वजनिक नियंत्रण चाहती है लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में यह संभव नहीं है । कांग्रेस जनता को समाजवाद का अमृत पिलाती रही ताकि जनता समाजवाद के सपने में ही खोयी रहे, कभी न उसकी नींद टूटे और पूंजीपति लोग अपनी

---

1. वि. भा. जनवरी 1938, पृ0 147
2. वि. भा. मार्च 1938 पृ0 367-72

-55

मंशा को पूरा करते रहें। यह कांग्रेस का समाजवाद है यानी एक ऐसा समाजवाद जिसमें पूंजी का नियंत्रण कुछ लोगों के हाथों में बना रहे। इसलिए विशाल भारत को टूटते हुए सपनों को साकार करने की एक मात्र आशा साम्यवाद में दिखाई पड़ती है।

साम्यवाद के बारे में जनता के बीच जो भ्रम फैला हुआ था, जैसे, साम्यवाद धर्म का विनाशक है, इत्यादि, 'विशाल भारत' ने इन सब का खंडन किया है। 'विशाल भारत' में शिवनाथ पाठक का एक लेख प्रकाशित हुआ है - 'गांधी और साम्यवाद'[1]। इस लेख में लेखक ने अपने समय के बुद्धि जीवियों का साम्यवाद के प्रति गलत विचारों का खंडन करते हुए उसके मूल सिद्धान्तों की रक्षा है।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेता सम्पूर्णानन्द जी ने 30 जुलाई 1934 के जागरण में लिखा 'मेरी समझ में भारत में मजहब और साम्यवाद का संघर्ष रोकना कुछ कठिन नहीं है। साम्यवाद की अपनी सफलता के लिए अपनी ओर से मजहब की लड़ाई ठानने की आवश्यकता भी नहीं है।[2] विशाल भारत के राष्ट्रीय अंक के एक लेख में उन्होंने लिखा - 'भारतीय साम्यवाद का भी विशेष स्वरूप होगा..... उस पर गांधीवाद और भारतीय संस्कृति, जो गांधीवाद की जननी है, प्रभाव पड़ेगा और वह आध्यात्मिक हो जायगा।[3] कलकत्ते के आदी प्रतिष्ठान के डा० सतीशचन्द्र दास गुप्त ने हिन्दू साम्यवाद नाम का एक नया सिद्धान्त दिया है। इसी तरह डा० भगवान दास ने मनु साम्यवाद का सिद्धान्त भी दिया है। पाठक जी ने जय प्रकाश नारायण की पुस्तक Why Socialism का हवाला भी दिया है। श्री नारायण के अनुसार समाज को शोषण से उन्मुक्त करने के दो उपाय हैं। एक कि उत्पादन के साधन - यंत्र ऐसे हों जिनसे शोषण संभव न हो, दूसरा कि साधन-यंत्र चन्द लोगों के हाथों में न रहकर पूरे समाज के हाथ में हो। पहला मार्ग गांधीवाद का है, दूसरा साम्यवाद का जय प्रकाश नारायण के अनुसार इस शताब्दी में पहले मार्ग से चलना कठिन है, उनका कहना है - 'भारतीय संस्कृति में जहां तक मैं समझता हूं, कोई भी ऐसी बात नहीं है जो साम्यवाद के सिद्धान्तों के

अगले पृष्ठ पर।

विपरीत पड़ती हो । कहते हैं कि भारतीय संस्कृति में व्यक्तिवाद की प्रधानता है, और साम्यवाद इसका विरोधी है किन्तु इस प्रकार का तर्क उपस्थित करने वालों ने न तो साम्यवाद को ठीक से समझा है और न भारतीय संस्कृति को ।[4]

पाठक जी के अनुसार गांधीवाद और साम्यवाद में कुछ अन्तर नहीं युग का है । उन्हीं के अनुसार साम्यवाद की भाषा में गांधीवाद को सुधारवाद कहा गया है । सिद्धान्त उन्हीं के प्रमाण द्वारा गांधीवाद की उलझन हुआ सिद्ध किया है । कानपुर के संयुक्त प्रान्त के जमीन्दारों से महात्मा जी ने कहा - " मेरा उद्देश्य है आपके हृदय तक पहुंचना - आपके हृदय को बदल देना, जिसमें आप अपनी सम्पत्ति को किसानों की भलाई के लिए उनकी धरोहर समझें ।"[5] पाठक जी की प्रतिक्रिया उन्हीं के शब्दों में - " आश्चर्य है कि गांधी के इस कथन को लोगों ने भारतीय समस्याओं का समाधान समझ लिया । वास्तविक बात यह है कि संसार के सभी साधु महात्माओं ने - बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि प्रभृति ने - इस प्रकार का उपदेश प्राचीन काल में दिया है, और अब गांधी जी आकर कुछ जादूगरी नहीं दिखला सकते । गांधी जी आकर कुछ जादूगरी नहीं दिखला सकते । गांधी जी का संबंध अहमदाबाद के मजदूर युनियन से बहुत पुराना है । क्या कोई यह कह सकता है कि वहां किसी मिल-मालिक में हृदय परिवर्तन का कोई चिन्ह दिखाई दिया :"[6] लेखक के अनुसार साम्यवाद पर यह इल्जाम भी लगाया जाता है कि यह मशीन का प्रचारक है । गांधीवाद मशीन का विरोधी है । लोगों का कहना है कि मशीन से हिंसा पैदा होती है, शोषण होता है । लेखक ने इसका प्रतिवाद किया है । "..... अतएव हिंसा की जड़ पूंजीवाद है, न कि मशीनवाद ।"[7]

---

1. वि. मा. जून 1936 पृ0 720-28
2. वही पृ0 721
3. वही पृ0 721
4. वही पृ0 723
5. वही पृ0 725
6. वही पृ0 725
7. वही पृ0 725

कुछ लोग मशीन पर बेकारी बढ़ाने का आरोप लगाते हैं, उनका की दृष्टि में मशीन से जीवन-स्तर ऊंचा होता है । इसी संदर्भ में लेखक ने जयप्रकाश नारायण के विचारों को उद्धृत किया है - " गांधीवाद का सिद्धान्त चाहे शुभेच्छा से भले ही चलाया गया हो ; परन्तु यह एक भयावह सिद्धान्त है । भयावह इस कारण कि यह वास्तविक प्रश्न को गौण बना देता है और सदिच्छा द्वारा समाज की बुराई को दूर करने का स्वांग करता है । इस प्रकार गांधीवाद जनता को भ्रम में डालता है । उच्च वर्ग को अपना प्रभुत्व कायम रखने के लिए उत्साहित करता है ।[1]

लेखक ने भगवान दास की पुस्तक ANCIEN MODERN SCIENTIFIC SOCIALISM, SOP. AL PUBL. MADRAS की भी खिंचाई की है । दास का मानना है कि समाज को व्यवस्थित करने के लिए सबसे पहले ब्राह्मणों की ज़रूरत है । डा0 दास मार्क्स के लेनी - युद्ध के बदले यज्ञशाला खोलने की भी बात करते हैं । पाठक जी भगवान दास जी मानो टूट पड़ते हैं - " मध्यम वर्ग के लोग ऐसे सुधारों को बहुत पसन्द करते हैं, क्योंकि सामाजिक और आर्थिक स्थिति इससे इतरी में नहीं पड़ती ।[2]

पाठक जी ने अपने इस लेख में साम्यवाद के रक्षक के रूप में खड़े हैं । साम्यवाद विरोधी विचारकों के हर कदम की आलोचना करते हैं । गांधीवाद अपने समय के किस वर्ग की मानसिकता का प्रतिनिधित्व कर रहा था, यह भी स्पष्ट है । इस वर्ग - चिन्तन को भली भांति समझते हुए शोषित वर्ग की विचारधारा की ज़मीन को मजबूत करते हुए पाठक जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि गांधीवाद समाज की वास्तविकता को हृदय परिवर्तन रूपी झीनी चादरों से ढक देता है । इस चादर को हटाना होगा । अब गांधीवाद की ज़रूरत नहीं है, वह धोखे की टट्टी है । इसलिए त्रिपुरी कांग्रेस के बारे में सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने " हमारे सिद्धान्त और कार्यक्रम " सम्पादकीय विचार में कहा - " त्रिपुरी-कांग्रेस ने यह प्रमाणित कर दिया है कि देश अब भी महात्मा जी के उपर्युक्त उपदेश पर चलने के लिए तैयार नहीं । इस दृष्टि से त्रिपुरी कांग्रेस महात्मा जी की सबसे अधिक भयंकर

---

1. वि. भा. जून 1936 पृ0 727
2. वही पृ0 728
3. वि. भा. मार्च 1939, पृ0 314-16

पराज्य है। जो गांधीवाद चोटों पर निर्भर करता है लोगों के हाथ उठाने न उठाने पर जिसका आधार पर है, वह अपनी नैतिक भित्ति से कभी का फिसल चुका।"[1]

इस तरह राष्ट्रीय आन्दोलन में कांग्रेस और गांधी जी का चरित्र सुधारवादी रहा। चरखे और खादी से समाज में एक तरह का सुधार हो सकता है, राष्ट्रीय आन्दोलन के नाम पर जनता अपनी एकजुटता का परिचय दे सकती है किंतु, समाज की आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन संभव नहीं है। इस परिवर्तन के लिए साम्यवाद की ही भूमिका उपयोगी हो सकती है, वह साम्यवाद किसी जाति-विशेष के प्रभुत्व पर आधारित नहीं है और न किसी विशेष संस्कृति और सभ्यता में इसका विकास संभव है, इसका विश्वास वर्ग संघर्ष में है - शोषणकारी शक्तियों और शोषित शक्तियों के बीच का संघर्ष। बदलते हुए समय में बढ़ती हुई शोषणकारी शक्तियों के खिलाफ सर झुका कर चलने से सुधारवादी और रचनात्मक ताकतें आगे बढ़ेंगी और समाज की वास्तविकता को दर किनार कर देंगी।

गांधीवाद एक सुधारवादी सिद्धान्त है। स्वयं सम्पादक चतुर्वेदी जी ने "राजनीतिक वायुमंडल"[2] शीर्षक सम्पादकीय में स्वीकार किया है। उनका कहना है कि एक साथ जमींदारों, किसानों और मजदूरों को लेकर चलने की महात्मा गांधी की नीति सफल नहीं हो सकी। उन्हीं के शब्दों में - "कोरमकोर खादी पहनकर या चरखा कातकर अथवा परोपकार की भावना से अछूतों के हाथ का भोजन करने से काम नहीं चल सकता।"[3]

वस्तुतः समय-समय पर "विशाल भारत" ने कांग्रेस और गांधीवाद का मूल्यांकन किया है। अपने प्रकाशन के प्रारंभिक वर्षों में पत्रिका ने कांग्रेस का पूरा समर्थन किया, गांधी इर्विन संधि और बारदोली कांग्रेस जैसे महत्वपूर्ण निर्णयों में

---

1. वि. भा. मार्च 1939, पृ0 315
2. वि. भा. जून 1936, पृ0 750-52
3. वि. भा. जून 1936 पृ0 750

उसने पूरे जो-शोर से कांग्रेस का समर्थन किया । कारण कि उस समय जनता को एकता के सूत्र में बांधने वाली एक मात्र पार्टी कांग्रेस थी और इस पार्टी ने यह काम किया । 1936 के बाद विभिन्न राज्यों में जब कांग्रेस की सरकार बनी, उसकी शासन-नीतियों ने विशाल भारत की आंख खोल दी । संयोगवश साम्यवादी विचार धारा भी धीरे-धीरे भारत के बुद्धिजीवियों के बीच नवीन आशा और आकांक्षा लिए आई थी, 'विशाल भारत' को कांग्रेस के एक विकल्प के रूप में साम्यवाद की भूमिका ज्यादा सार्थक लगी और इसके साम्यवाद का पल्ला पकड़ा । प्रारंभिक दौर में विकल्प के अभाव में, कहा जा सकता है कि विशाल भारत कांग्रेस का अमन पकड़े रहा, आगे चलकर विकल्प सामने आते ही इसने कांग्रेस की आलोचना करनी शुरू कर दी ।

क्या 'विशाल भारत' ने किसी राजनैतिक विचार धारा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता भी घोषित कर दी ? इस प्रश्न का उठना बहुत स्वाभाविक है ।

'हमारे सिद्धान्त और कार्यक्रम'[1] शीर्षक सम्पादकीय विचार में बनारसीदास चतुर्वेदी ने सरकार वल्लभभाई पटेल के भाषण के एक अंश पर अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है । वह अंश इस प्रकार है - 'हमें अपने देश के लिए राम तथा गांधी चाहिए, लेनिन या स्टैलिन नहीं ।'[2] चतुर्वेदी जी की प्रतिक्रिया है - 'मनुष्य के दिमाग के दरवाजे हम किसी भी हालत में बन्द नहीं कर सकते ।'[3] आगे उन्होंने त्रिपुरी कांग्रेस का जिक्र किया है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है । सम्पादक ने समय की नब्ज को पकड़ा । इसके बावजूद उसी सम्पादकीय टिप्पणी में उन्होंने यह घोषित किया है कि 'विशाल भारत' किसी पार्टी का 'पिछलगुआ या पुछेला'[4] नहीं है । इसलिए विशाल भारत' से किसी पार्टी मुख पत्र के होने की उम्मीद करना भी व्यर्थ है । यह भी कोई आवश्यक नहीं कि पार्टी का मुखपत्र होने पर ही कोई पत्रिका अपनी राजनैतिक प्रतिबद्धता प्रदर्शित कर पायेगी । किन्तु, इस दृष्टि से भी 'विशाल भारत' प्रतिबद्ध नहीं है । कांग्रेस की आलोचना कर उसने अपनी

1- वि० भा० मार्च 1939, पृ० 314-16

2- वही पृ० 314

3- वही पृ० 314

4- वही पृ० 314, सम्पादक द्वारा प्रयुक्त शब्द ।

अप्रतिबद्धता का प्रमाण दे दिया है, साम्यवाद की वकालत कर इसने साम्यवादी होने का प्रमाण दिया है, इस प्रकार के भ्रमों में पड़ने की आवश्यकता नहीं है।

हकीकत यह है कि "विशाल भारत" का लक्ष्य स्वाधीनता प्राप्त करना था, स्वाधीनता किसके लिए आयेगी, इस पर इसने विचार किया है किंतु इसने विचार को कार्यान्वित नहीं किया है।

"कांग्रेस सभापति का भाषण" सम्पादकीय विचार में सम्पादक ने फैजपुर कांग्रेस में जवाहरलाल नेहरू के भाषण का उल्लेख किया है। फैजपुर कांग्रेस में जवाहरलाल नेहरू ने सम्पूर्ण दुनिया की दो विरोधी शक्तियों, साम्राज्यवाद और समाजवाद के संघर्ष की चर्चा करते हुए भारतवर्ष में भी इस संघर्ष की मौजूदा स्थिति पर विचार किया। किंतु, इस मौजूदा स्थिति में फिलहाल स्वाधीनता - संग्राम में एक साथ लड़ने की प्रासंगिकता को भुलाया नहीं जा सकता। सम्पादक ने पं० नेहरू के इस विचार का समर्थन किया है, उन्हीं के शब्दों में - "पंडित जवाहरलाल नेहरू और अन्य भारतीय समाजवादी कहते हैं कि अभी फौरन ही भारतवर्ष समाजवाद में प्रवर्तित नहीं हो सकता, पहले देश को स्वाधीन करके फिर उसे समाजवाद में प्रवर्तित किया जायगा, क्योंकि जब राष्ट्र-शक्ति हाथ में नहीं आती, तब तक समाजवाद में प्रवर्तन नहीं किया जा सकता।"[2] इसी सम्पादकीय टिप्पणी के बाद फैजपुर कांग्रेस अधिवेशन[3] शीर्षक से रामानन्द चटर्जी की टिप्पणी प्रकाशित हुई है जिसमें उन्होंने पं० जवाहरलाल नेहरू की आलोचना की है। नेहरू जी को फैजपुर रेलवे स्टेशन से कांग्रेसनगरी तिलक नगर तक पुराने जमाने के रथों की तरह एक बैलगाड़ी पर ले जाया गया। इस रथ की डिजाइन और सजावट प्रसिद्ध कलाकार नन्दलाल बोस की थी।

कांग्रेसी सरकार का जितनी बारीकियों से "विशाल भारत" ने विश्लेषण किया है उससे ऐसा लगता है कि "विशाल भारत" सम्पूर्ण भारतीय समाज को तुरत ही समाजवादी व्यवस्था के ढांचे में देखना चाहता है। भविष्य की

---

1. वि. भा. जनवरी 1937 पृ० 110-13
2. वही पृ० 113
3. वही पृ० 113

62

स्वतंत्रता मिल-मालिकों और पूंजीपतियों की न हो कर किसानों और मजदूरों की होगी। किंतु, पुन: " विशाल भारत " अपने उसी पुराने विचार की पूरी शक्ति के साथ लेते हुए जनता के बीच आया, पहले आजादी तथा तब व्यवस्था का विकल्प सोचा जायेगा। " विशाल भारत " अपने उद्देश्य में सुदृढ़ रहा। अपने उद्देश्य को पूरा करना उसका पहला काम था, दूसरा काम समाजवादी व्यवस्था लाना था। कांग्रेस के प्रगतिशील तबकों की यही दृष्टि थी। तभी तो जब जवाहर लाल नेहरू ने जमींदारी तथा ताल्लुकेदारी प्रथा के पक्ष लेने का आरोप गांधी जी पर लगाया, उन्होंने आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के पहले स्वाधीनता का नारा दिया। नेहरू जी सपने में समाजवाद की कल्पना करते थे, " विशाल भारत " भी सपने में समाजवाद देखता था। दोनों स्वप्नदर्शी थे।

यह सही है कि राजनैतिक और आर्थिक विकल्प पर यत्किंचित विचार विमर्श करने का महत्व है परन्तु इस महत्व को एक विकासक्रम में देखा जाना चाहिए। " विशाल भारत " ने अपने प्रारंभिक समय में कांग्रेस को स्वाधीनता - संग्राम के प्रमुख संस्थान के रूप में स्वीकार किया। जब साम्यवादी चिन्तन धीरे-धीरे भारत की जनता में फैल रहा था, " विशाल भारत " ने कांग्रेस और साम्यवाद का तुलनात्मक विवेचन किया। कांग्रेस का वर्ग-विश्लेषण किया और भावी समाज के लिए साम्यवाद के महत्व को जनता के मंच पर रखा। किंतु स्वाधीनता प्राप्ति के उद्देश्य ने एक ऐसा जादू " विशाल भारत " पर रखा था कि वह किसी भी प्रकार के आर्थिक और राजनैतिक विकल्प को कार्यान्वित करने के लिए उस विकल्प के लिए जनता को गोलबन्द करने के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि ऐसा कर वह जनता की मानसिकता को विभाजित करने का गुनहगार साबित होता। इसलिए उसने ब्रिटिश शासन के साम्राज्यवादी चरित्र के खिलाफ जनता की एकता बद्ध करने का प्रयास किया। कांग्रेस में तमाम कमजोरियों के बावजूद अभी भी स्थिति में कांग्रेस की आवश्यकता को उसने महसूस किया।[1]

दूसरे महायुद्ध (1939-41) के समय एक बार फिर " विशाल भारत " ने ब्रिटिश सरकार के साम्राज्यवादी चरित्र पर हमला किया। दूसरे महायुद्ध में

---

1. वि० भा० मई 1939 पृ0 536-37

भारत की भूमिका क्या हो सकती है, इस पर पत्रिका ने विचार किया । इस संदर्भ में ' युरोपीय परिस्थिति' शीर्षक सम्पादकीय में सम्पादक श्री राम शर्मा ने युद्ध के चरित्र पर विचार किया है । शर्मा जी के अनुसार साम्राज्यवाद अशांति और युद्ध की जननी है ।

एक ओर ' विशाल भारत ' ने ब्रिटिश सरकार पर आक्रमण किया है, दूसरी ओर जर्मनी को भी नहीं बख्शा । वर्तमान विश्व के सामने साम्राज्यवाद को गंभीर खतरा बतलाते हुए पत्रिका ने स्वाधीनता की मांग की है । भारत को गुलाम बनाने की प्रवृति भी साम्राज्यवादी है जो भारतीय जनता का मौके-बे-मौके फायदा उठाना चाहता है । इसलिए सीधा हमला साम्राज्यवाद पर । ठीक उसके पहले कांग्रेसी सरकार का विश्लेषण करते हुए ' विशाल भारत ' ने जमींदार और पूंजीपति वर्ग पर सीधा धावा बोला और साम्राज्यवाद की भर्त्सना की । किन्तु अन्ततः स्वाधीनता प्रिय ' विशाल भारत ' को फिलहाल समाज के सभी तबकों को शामिल करने की जरूरत थी, इसलिए उसने नेहरू जी के हरिपुरा कांग्रेस के भाषण का समर्थन किया ।

यहां भी यही स्थिति बनती है । विशाल भारत ने ' युरोप अंक ' निकाला । उस अंक में अमर नारायण अग्रवाल, एम. ए., एफ. आर. ई. एस. (लन्दन) का लेख ' पूंजीवाद का अन्तिम रूप - फैसिज्म ' [2] प्रकाशित हुआ है । इसमें फासिज्म के मूल भूत सिद्धान्तों का लेखक ने विस्तार से वर्णन किया है । फासिज्म लोकतंत्रवाद का अन्त करता है । अधिनायकशाही सत्ता के बाहर जितने भी राजनीतिक और आर्थिक संगठन हैं, वह उनकी छुट्टी कर देता है । इसलिए उसके विरुद्ध नरमपंथ वाले आवाज उठाते हैं । फासिज्म के अनुसार राष्ट्र सर्वेसर्वा है । जैसी हिटलर के अनुसार व्यक्ति कुछ नहीं है, जाति सब कुछ है । फासिज्म पार्लियामेन्ट को समाप्त करने का कायल है । वह समाज श्रेणी और नेतृत्व के सिद्धान्त को मानता है । मिला जुला कर लेखक का यह निष्कर्ष है कि

---

1. वि. भा. अक्तूबर 1939
2. वि. भा. अक्तूबर 393-404

63

युद्ध और युद्ध की सफलता फासिज्म की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सफलता का एक प्रमुख खतरा है[1] उसी अंक के दूसरे लेख ' युरोप की शान्ति- समस्या ' (रामखेलावन) में लेखक ने अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का विरोध किया है। इस प्रकार ' विशाल भारत ' ने फासिज्म को सबसे बड़ा खतरा घोषित किया है। इसकी साजिश का इसने पर्दाफाश किया है।

इतना ही नहीं, इसने महायुद्ध के पीछे चल रही राजनीति को भी उजागर किया है। उसी अंक के टिप्पणियाँ[2] स्तंभ के भारत और महायुद्ध[3] (ले० बालकृष्ण गुप्त) में इसका उल्लेख किया है कि युरोपीय राष्ट्र मजदूरों के साम्यवादी आन्दोलन को दबाने के लिए फासिज्म का समर्थन कर रहे हैं। साम्राज्यवाद और फासिज्म का विश्लेषण करते हुए भारतीय संदर्भ में ' विशाल भारत ' ने इसे देखने का प्रयास किया है। ब्रिटिश सरकार के साम्राज्यवादी चरित्र और भारतीय पूंजीपतियों के चरित्र की एक तुलनात्मक रूपरेखा इसमें प्रस्तुत की है। टिप्पणियां स्तंभ में ब्रिटेन का लोक तंत्र[4] और मुस्लिम लीग '[5] शीर्षक से दो टिप्पणियां प्रकाशित हुई हैं। पहली टिप्पणी में ' विशाल भारत ' ने लिखा - ' बड़ी - बड़ी रकमें साम्राज्यवाद की भेंट चढ़ाने वाले राजेमहाराजे और नवाब अगर प्रजातंत्र कहीं चाहते हैं जो दूषित पूंजीवाद ' (सम्पादक द्वारा प्रयुक्त) पर आधारित है। जर्मनी की तानाशाही और साम्राज्य लिप्सा ने संसार में एक तहलका मचा रखा है। इसलिए सम्पादक का कहना है कि विश्व शान्ति के लिए साम्राज्यवाद का खात्मा आवश्यक है।

इस युद्ध में भारत की भूमिका पर विचार करते हुए उसी अंक के सम्पादकीय विचार में ' भारत और युद्ध ' शीर्षक टिप्पणी में सम्पादक ने कांग्रेस की नीति

---

1. विशाल भारत अक्तूबर 1939 पृ0 432-35
2. वही पृ0 462-464
3. वही पृ0 462-63
4. विशाल भारत नवम्बर, 1939 पृ0 567-68
5. वही पृ0 468

का समर्थन किया है। कांग्रेस ने युद्ध में शामिल नहीं होने का निर्णय लिया। जो ब्रिटेन लोकतंत्र की माला जपता है, वही भारत को गुलाम बनाये रखने की इच्छा भी रखता है। इसलिए विशाल भारत की स्पष्ट राय है - " गत महायुद्ध में धन जन से सहायता देकर भारत को जो कटु अनुभव है, उन्हें वह अभी भूला नहीं है। और अब अत्यधिक कृपा करके लोकतंत्र प्रिय ब्रिटिश सरकार ने भारत के ऊपर जो अग्राह्य विधान लादा है, उसे भारतीय जनता अच्छी तरह समझती है। इन सब बातों को देखते हुए भारत के लिए जैसा लोकतन्त्रवाद " है, वैसी ही "डिक्टेटरशाही "[1] । अतएव विशाल भारत की समझ में ब्रिटेन और जर्मनी दोनों भारत के दुश्मन हैं, इसलिए इन दोनों के युद्ध में भारत को भाग नहीं लेना चाहिए। 14 सितम्बर, 1939 9-10 अक्तूबर, 1939 की वर्धा बैठक में कांग्रेस ने युद्ध संबंधी विषय पर विचार किया। कांग्रेस ने यह घोषणा की कि ब्रिटिश शासकों ने भारतीय जनता की राय लिये बिना भारत को युद्धरत देश घोषित किया है, इसलिए भारत युद्ध के संचालन में ब्रिटिश का साथ नहीं दे सकता।[2] तो ब्रिटेन में अपनी रियासतों में तो वे प्रजा को अपने ही अधीन बनाये रखने की जबरदस्त कोशिश करते रहते हैं। ब्रिटिश रेडियो पर उनके नामों की घोषणा करने से किसी को भी यह विश्वास नहीं हो सकता कि भारतीय जनमत ब्रिटिश सरकार के पीछे है।[3] इसी सिलसिले में दूसरी टिप्पणी में इसने मुस्लिम लीग " जमींदार, नवाब की पार्टी बताया है और यह आह्वान किया है कि उसकी समस्या एक है, स्वाधीनता की प्राप्ति।

" विशाल भारत " ने भारतीय पूंजीपति वर्ग और ब्रिटिश शासक वर्ग के चरित्र को एक बताते हुए एक दृष्टि से स्वाधीनता की अवधारणा पर नेपथ्य से विचार किया है। क्योंकि " विशाल भारत " की दृष्टि में दूसरे महायुद्ध में भारतीय

---

1. विशाल भारत नवम्बर 1939 पृ0 544
2. भारत का मुक्ति संग्राम पृ0 670-71
3. विशाल भारत नवम्बर 1939 पृ0 567

65

पूंजीपति वर्ग की हिस्सेदारी भी है जो ब्रिटिश शासक वर्ग से साम्य रखती है। इससे यह सिद्ध होता है कि यहां का पूंजीपति वर्ग स्वाधीनता नहीं चाहता था बल्कि ब्रिटिश शासन के छत्र-छाया में फलना - फूलना चाहता था। इसलिए विशाल भारत ने मुस्लिम लीग का विरोध किया।

किंतु, पत्रिका की मंजिल मात्र स्वाधीनता प्राप्ति थी और चूंकि उस समय भारत का पूंजीपति वर्ग सरकार के साथ था, इसलिए संग्राम की एकजुटता को बनाये रखने के लिए पत्रिका ने स्वाधीनता का नारा दिया।

उसी युरोप अंक में पहला लेख पो0 गुरुमुख निहाल सिंह का `आज का युरोप`[1] शीर्षक से प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने रूस और जर्मनी की संधि पर एतराज किया है। `नेहरू जी और भारतीय कम्युनिस्ट`[2] `देशभक्तों के खिलाफ कुत्सित`[3] तथा कट्टरता बनाम व्यावहारिकता[4] सम्पादकीय टिप्पणियों में इसके कम्युनिस्ट पार्टी की आलोचना की है। नेहरू जी और भारतीय कम्युनिस्ट` टिप्पणी में सम्पादक श्री राम शर्मा के अनुसार बम्बई में नेहरूजी से वामपंथी नेताओं के बारे में उनका मत पूछा था। उन्होंने कहा - `मूल रूप से कम्युनिस्टों की नीति उस देश के हित की दृष्टि से नहीं होती, जहां कि ये काम करते हैं; बल्कि रूस की विदेश नीति की दृष्टि से होती है।`[5] नेहरू जी ने उदाहरण दिया कि जर्मनी के साथ रूस की अनाक्रमण- संधि और युद्ध आरंभ से ब्रिटेन से संधि, ये सिद्ध करते हैं कि प्रश्न राष्ट्रीय हित का है। अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय नीतियों के संघर्ष राष्ट्रीय नीति की जीत होती है। नेहरू जी के इस मत की प्रतिक्रिया में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्री पूरन चन्द जोशी ने इसे कम्युनिस्टों पर हमला और कम्युनिस्ट विरोधी कार्रवाइयों में नेहरू जी की साझीदारी बताया। सम्पादक ने नेहरू जी के विचारों का समर्थन किया है। नेहरू जी ने अगस्त उपद्रव के बारे में कम्युनिस्टों के विचारों का भी खंडन किया है। सम्पादक के

---

1. विशाल भारत नवम्बर 1939 पृ0 337-40
2. विशाल भारत जुलाई 1945, पृ0 62
3. वही पृ0 62-63
4. वही पृ0 63-64
5. वही पृ0 62

अनुसार कम्युनिस्ट पार्टी ने अगस्त उपद्रव में कांग्रेस का उपद्रव कहकर अंध राष्ट्र भक्त की उपाधि दी ।

इस टिप्पणी से यह स्पष्ट होता है कि कम्युनिस्ट पार्टी अपने राष्ट्रीय हित के लिए फासिस्ट और साम्राज्यवादी ताकतों से भी समझौता कर सकती है । उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग का हित राष्ट्रीय हित के सामने पीछे रह जाता है । भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने सोवियत संघ का साथ देकर अपने को देश द्रोही साबित कर दिया है ।

प्रश्न है कि किसी समाजवादी देश का राष्ट्रीय हित साम्राज्य वादी देश के राष्ट्रीय हित से कोई समानता रखता है या नहीं । इसी के परिप्रेक्ष्य में 1934 और उसके बाद की कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कार्यकारिणी समिति की रिपोर्ट पर भी विचार किया जायगा ।

किसी भी देश के राष्ट्रीय प्रश्न का सुनिश्चित वर्गीय आधार होता है । एक समाजवादी देश में राष्ट्रीय उत्पीड़न के खिलाफ जनता का संघर्ष होता है, वह उत्पीड़न राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के अपने हित का परिणाम है । राष्ट्रीय उत्पीड़न का अन्त उस देश का शोषित वर्ग करता है । इसके अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्रों के बीच समानता सिद्धान्त विविध राष्ट्रीय संस्कृतियों के विकास की बात भी निहित है । पूंजीवादी देश में राष्ट्रीय प्रश्न दो प्रवृत्तियों के अन्तर्गत निहित हैं । इसकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है । संक्षेप में यहां बता देना उचित है कि पहली प्रवृत्ति राष्ट्रीय आन्दोलन की जागृति जो राष्ट्रीय मंडी बन जाने का परिणाम है और दूसरी प्रवृत्ति प्रत्येक प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संसर्ग का विकास है । यह प्रवृत्ति पराये देशों में घुस कर वहां की जनता का शोषण करने की है । इस तरह गैर समाजवादी देशों का अन्तर्राष्ट्रीयतावाद भी शोषण पर आश्रित होता है । कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र में यह कहा गया है कि पूंजी एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति है और सभी देशों के मजदूरों का हित एक है और ये मजदूर ही है जिन्होंने विश्वव्यापी बाजार को जन्म दिया । इसलिए दुनिया के मजदूरों एक हो । यानी समाजवादी देशों का अन्तर्राष्ट्रीयतावाद शोषण के खिलाफ लड़ाई करता है । जबकि पूंजीवादी तथा साम्राज्यवादी देशों का अन्तर्राष्ट्रीयतावाद अपने हित में अधिकाधिक शोषण के लिए लड़ाई करता है ।

67

मई 1934 की कोमिंटर्न कार्यकारिणी के अध्यक्ष मंडल ने सातवीं कांग्रेस की कार्यावली निर्धारित की । कार्यावली के मुख्य विषयों पर मसविदे तैयार करने के लिए समितियों का गठन हुआ । ये समितियां 14 जून 1934 को बैठी । इसी सिलसिले में कोमिंटर्न की कार्यकारिणी तथा सोवियत कम्युनिस्ट की केन्द्रीय समिति के नाम दिमित्रोव का पत्र तैयार समिति की 2 जुलाई 1934 की बैठक में कांग्रेस कार्यावली के दूसरे विषयक में उनका भाषण ' फासिस्ट आक्रमण तथा फासिज्म के विरुद्ध मजदूर वर्ग की एकता के लिए लड़ाई में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के कार्य भार ' महत्वपूर्ण है । इन दस्तावेजों में इस बात पर जोर दिया कि फासिज्म के बढ़ाव के खिलाफ संयुक्त मजदूर मोर्चे को किस तरह संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ाया जाये । दिमित्रोव ने फासिस्ट विरोधी संघर्ष में सामाजिक जनवादी पार्टियों तथा सुधारवादी ट्रेड युनियनों के संयुक्त मोर्चे पर बल दिया । फासिज़्म की वर्गी व्याख्या करते हुए इसे सर्वाधिक संघ राष्ट्रवादी, साम्राज्यवादी तत्वों की नंगी और आतंकवादी तानाशाही है जिसमें पार्लियामेन्ट की समाप्ति व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का हनन इत्यादि शामिल है ।[1]

इस तरह कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने फासिज़्म के खिलाफ दूसरे देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को लड़ने का आह्वान किया । दूसरे विश्व युद्ध के चरित्र पर विचार करते हुए लेनिन ने कहा कि दूसरा विश्व युद्ध साम्राज्यवाद के तहत पूंजीवादी देशों के असमान विकास के नियम की क्रिया से उत्पन्न हुआ । यह साम्राज्यवादी राज्यों के अन्तर्विरोधों के अत्यन्त तीव्र हो जाने का मंडियों और कच्चे माल के स्रोतों के लिए पूंजीनिवेश के क्षेत्रों के लिए संघर्ष का नतीजा है ।[1] किन्तु इस युद्ध की खास बात ये है कि एक समाजवादी देश सोवियत रूस के निरंतर विकास ने दुनिया को दो भागों में बांट दिया था । साम्राज्यवादी और समाजवादी । साम्राज्यवादी राज्यों के अन्तर्विरोध के तीव्र हो जाने के बावजूद समाजवाद का विरोध इन्हें करना था इसलिए पश्चिम की राज्य जर्मनी के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष न कर उसे सोवियत संघ के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए निरंतर उकसाते रहे । इस तरह समाजवादी सोवियत रूस विश्व रंगमंच पर बिल्कुल अकेला साम्राज्यवादी देशों के प्रहारों का सामना कर रहा था । यदि उसने जर्मनी के साथ कोई संधि यानी अनाक्रामक संधि की तो

---

1. कम्युनिस्ट इंटरनेशन का संक्षिप्त इतिहास, प्रगति प्रकाशन, मास्को, पृ0 409-448 ।

इसका मूल्यांकन इन्हीं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में किया जाना चाहिए। संधि का स्वभाव था अनाक्रामक यानी दोनों देश एक दूसरे पर हमला नहीं करेंगे। किंतु, हिटलर ने रूस पर आक्रमण किया। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने फासिज्म और साम्राज्यवादी शक्तियों के विस्तार पर 1934-35 में ही विचार किया था। इस प्रकार कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने विश्व-युद्ध के मूल कारण की खोज की। सोवियत संघ का राष्ट्रीय हित क्या उसके अन्तर्राष्ट्रीयतावाद से टकरा रहा था, क्या सोवियत संघ राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के लिए गद्दार साबित हो रहा था? अगर ऐसी ही बात होती तो हिटलर के आक्रमण के फलस्वरूप फ्रांस की तनावपूर्ण स्थिति को देखते हुए पेरिस की रक्षा के लिए कम्युनिस्ट पार्टी ने 6 जून 1940 को सरकार के सामने यह प्रस्ताव न रखा होता कि युद्ध का स्वरूप बदलकर उसे मुक्ति और स्वाधीनता के युद्ध में परिणत कर दिया जाय[1][2]। ब्रिटेन के साथ संधि होने का कारण भी लेनिन ने साम्राज्यवादी शक्तियों के अन्तर्विरोध से विश्व समाजवाद को सुदृढ़ करना बताया। सोवियत संघ की इस रणनीति का उद्देश्य समाजवादी ढाँचे को मजबूत करना था।

अब आइए देखें कि उस समय भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का रवैया राष्ट्रीय हित में था या नहीं। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का साप्ताहिक पत्र 'नेशनल फ्रंट' ने यह लिखा कि राष्ट्र अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटि की चतुर्थ बैठक का बड़ी बेसब्री से इंतजार कर रहा है क्योंकि कांग्रेस की यह बैठक राष्ट्र को एक नई दिशा दे सकती है, राष्ट्र की जनता की आशा को फलदायक बना सकती है।[3] यह विचार 1939 में व्यक्त किया गया। 'नेशनल फ्रन्ट' के उसी अंक में यह घोषणा की गई कि वह सुभाष चन्द्र बोस के आह्वान पर देश के भिन्न - भिन्न भागों में आयोजित एंटी - वार प्रदर्शन का समर्थन करता है। पत्रिका के अनुसार 23 अप्रैल, जिस दिन सारे देश में 'ऐंटी वार डे' मनाया जायगा, भारत के दृढ़ निर्णय का प्रमाण है कि किसी भी कीमत पर ब्रिटेन के साम्राज्यवादी चंगुल में नहीं आयगा। पत्रिका देश के नौजवानों, मजदूरों, किसानों और छात्रों से अनुरोध करती

---

1. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का संक्षिप्त इतिहास, ~~फिसलाज्यक्स~~ ~~वही~~ पृ0 532

2. वही पृ0 538-39

3. NATIONAL FRONT, 23 APRIL, 1939.

है कि वे इस ' एंटी - वार डे ' को सफल बनाये । [1] ' नेशनल फ्रंट ' के सम्पादक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेता पूरनचन्द जोशी थे ।

' नेशनल फ्रंट ' के उसी अंक में आर. डी. भारद्वाज का लेख ' इंडिया एंड द वार ' प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने 15 अप्रैल 1939 के हरिजन ' में प्रकाशित गांधी जी के वक्तव्य और हरिपुर कांग्रेस के निर्णय के अन्तर्विरोध की ओर संकेत किया है । गांधी जी का कहना था कि आने वाली घड़ी शान्ति प्रेमियों की कठिन परीक्षा साबित होगी । शान्ति प्रेमियों को युद्ध से अलग रहना पड़ेगा और ऐसा वे सत्याग्रह और अहिंसा के द्वारा ही कर सकते हैं । [2] लेखक के अनुसार कुछ ही दिनों पहले महात्मा गांधी से यह सवाल पूछा गया कि इस विश्व युद्ध में भारत की क्या भूमिका हो सकती है, गांधी जी ने इसका जवाब देने में अपनी असमर्थता व्यक्त की । ठीक इसके प्रतिकूल हरिपुर कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पारित किया कि भारत

---

1. The nation looks to the forth coming sitting of A.I.C.C. to give a c-oncrete lead in this regard and devise means of strengthening the congress and maintaining and ex tending the national unity that it already represents and expresses. Let us endeavour so that the A.I.C.C. fulfuls the hopes of the nation. " - NATIONAL FRONT, Vol II, No. 11, 23 April, 1939, P. 171.

1. " Anti-war day " - we wholeheartedly endorse Presidents Boses call for organising demonstration all over the country on April 23rd to express India's determination to be not party to Britain's imperialist war, to resist every effort made by imperialism to drag India into war and condemn the war amendment to the government of India act. President Bose had given a timely lead which we are confident all congres-s men, all socialists and Communists all working class and peasant-s as well as students youth and other organisations will follow let 23rd April mark the begining of powerful nation vide anti war movement in our Country, a movement that shall shatter imperialist hopes of wrong Indian resources. - do- 171 .

2. In the coming test the pacifists have to prove their faith by resolutely refusing to do anything with war. Whether of defence or of offence. But the duty of resistance accrues to only those who believe in non-violence as a creed ..... Such resistance is a matter for each person to decide and under the guidance of the inner voice ..... " P.177, NATIONAL FRONT, Vol-1, No11, 23 April, 1939.

विश्व युद्ध में हिस्सा नहीं लेगा । भारद्वाज जी का सवाल है कि क्या गांधी जी के विचार कांग्रेस की नीति से मेल खाते हैं ? इस तरह महात्मा गांधी और कांग्रेस के बीच के अन्तर्विरोध को, नेहरू जी ने ओझल कर दिया । भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने जब इसे जनता के सामने रखने की कोशिश की तब उसे नेहरू जी की आलोचना कर का शिकार होना पड़ा ।

इसे भरपूर समर्थन दिया किंतु, कांग्रेस के खाते में रखकर इसने भारतीय पूंजीपतियों और ब्रिटिश पूंजीपतियों के साथ चल रही साठगांठ की आलोचना भी की है । 'भारतीय पूंजीपतियों से गांठ साठ'[1] शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी में यह निष्कर्ष दिया है कि विविध मौकों पर भारतीय पूंजीपतियों के साथ ब्रिटिश सरकार ने समझौता कर भारत को हमेशा पराधीन बनाये रखा । सम्पादक मोहन सिसेंगर ने पाठकों को बताया है कि भारतब्रिटिश पूंजीपतियों के चंगुल से मुक्त हो गया है परन्तु यह मुक्ति मात्र एक मुक्ति है । सम्पादक का कहना है कि उसे पूंजीवाद से मुक्ति चाहिए और पूंजीवाद का न तो कोई देश होता है, और न कोई मजहब और न कोई जाति । सम्पादक के पास उदाहरण मौजूद हैं। मई 1945 में बिड़ला - टाट को अमेरिका और इंगलैंड भेजा गया । 6 सितम्बर, 1945 को किसी संवाद पत्र से उसे ये खबर मिली कि भारतीय उद्योगपतियों के दल और ब्रिटिश उद्योगपतियों में पारस्परिक सहायता के आधार पर समझौता हुआ है, जिसके अनुसार बड़े बड़े ब्रिटिश उद्योगपतियों ने भारत में, मोटर, रेडियो, हवाईजहाज इत्यादि बनाने की सुविधा कर देने का जिम्मा लिया है । अपनी प्रारंभिक अवधि में ' विशाल भारत ' ने भारतीय पूंजीपतियों और भारतीय जनता को एक साथ लेकर चलने की जो कल्पना की थी, यह कपोल कल्पना 1935 के बाद धीरे धीरे खंडित दिखलाई पड़ती है । ' विशाल भारत ' को पूंजीपतियों और भारतीय जनता के अलग अलग हितों का बोध धीरे धीरे होने लगा है । इसलिए आजादी की इस पूर्व बेला में उसने आह्वान किया है - देश को पूंजीवाद के चंगुल से मुक्त करो । '

---

1 ~~विशाल~~ विशाल भारत मार्च 1946, पृ0 251-52

चतुर्थ अध्याय

साहित्य और 'विशाल भारत'

(क) 'विशाल भारत' की साहित्य-विषय मान्यता और युगीन संदर्भ में इसका विश्लेषण

(ख) राष्ट्रभाषा का आन्दोलन और 'विशाल भारत'

(ग) विशाल भारत की सम्पादकीय नीति

साहित्य के बारे में ' विशाल भारत ' की क्या मान्यता रही है ? किस तरह के साहित्य को प्रोत्साहित करने का प्रयास ' विशाल भारत ' के मंच से हुआ ? इन प्रश्नों का उत्तर इस पत्रिका में प्रकाशित साहित्यिक सामग्री के अध्ययन के बाद ही दिये जा सकते हैं ।

' विशाल भारत ' के पहले अंक में रवीन्द्र नाथ ठाकुर, यदुनाथ सरकार तथा डा० कालिदास नाग द्वारा गठित वृहत्तर भारत परिषद से सम्बन्धित एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ है जिसमें इस परिषद के उद्देश्य गिनाए गए हैं । इन उद्देश्यों में एक उद्देश्य है, वृहत्तर भारत परिषद द्वारा भारतीय संस्कृति के अध्ययन की योजना को कार्यान्वित करना । इसी अंक में राखालदास बन्दोपाध्याय का लेख ताम्र-युग में भारतवर्ष[1] प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने मोहन-जोदड़ो और हरप्पा संस्कृति की कुछ प्रमुख विशेषताओं का हवाला देते हुए पूर्व-मान्यताओं का खंडन किया है । लेख के अनुसार हरप्पा में जितना पुराना सामान निकला है, उससे समझा जाता है कि ताम्र युग में भारतवासी मेसोपोटामिया और मिस्र की अपेक्षा अधिक सभ्य थे ।

भारतवर्ष पराधीन था । ब्रिटिश शासक भारतीय संस्कृति को हेय दृष्टि से देखते थे । वे समस्त भारतीय समाज को अपनी संस्कृति में ढाल देना चाहते थे, ताकि वे भारत पर शासन कर सकें । इसलिए यह आवश्यक था कि भारत अपने अतीत की ओर मुड़े और जनता में फैले भ्रम को तोड़े । ' विशाल भारत ' ने सबसे पहला काम यह किया कि उसने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया ताकि जनता में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव का भाव उत्पन्न हो । राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए ऐसा करना अनिवार्य था ।

' विशाल भारत में प्रकाशित साहित्य संबंधी सामग्रियों का एक पक्ष भारतीय संस्कृति को ब्रिटिश शासक की संस्कृति के समानान्तर खड़ा करना है ।[2] पहले अंक में अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के गीत ' विशाल भारत ' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं -

विधि-कान्त - का संवारा ।
संसार का सहारा ।[3]

---

1. विशाल भारत, जनवरी, 1928, पृ० 33-40
2. वही पृ० 61
3. वही पृ० 61

2

जय जय विशाल भारत भुवनाभिराम प्यारा ।[1]

इसलिए मैथिलीशरण गुप्त उसी अंक में लिखते हैं --

उठ, ओ वृहद, विराट, विशाल ।

उठ अमिताभ, लाभ कर निजपद, छूटा छन्द पर डाल ।

(विशाल-भारत शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियां)

पराधीन देश का साहित्य क्या हो सकता है ? अपने समय की आवश्यकता को ओझल कर लिखा जाने वाला साहित्य निश्चित रूप से जनता का साहित्य नहीं हो सकता । जनता के साहित्य की पहली मांग है कि वह साहित्य अपने समय की जनता में सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना जगाये । विशेषत: पराधीन देश के साहित्य से यह मांग तो की ही जाती है, क्योंकि पराधीन देश के शासक शासन करने के लिए हर तरह के हथकंडे अपनाते हैं, कभी उस देश की भाषा को दरिद्र बताते हैं तो कभी उस देश की संस्कृति को । इसलिए " विशाल भारत " में जो साहित्य-संबंधी रचनाएं प्रकाशित हुई हैं, उसका उद्देश्य राजनीतिक आन्दोलन को तेज करना था । यह समस्त भारतीय जनता का ऐसा आन्दोलन था जिसमें साहित्य की भूमिका महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती थी । " विशाल भारत " ने साहित्य को इसी रूप में ग्रहण किया है ।

4 अगस्त 1937 को प्रसिद्ध इतिहासकार काशी प्रसाद जायसवाल की मृत्यु हुई । इस अवसर पर " विशाल भारत " में राहुल सांकृत्यायन का एक लेख डा० काशी प्रसाद जायसवाल "[2] प्रकाशित हुआ है । राहुल जी के अनुसार काशी प्रसाद जायसवाल जी ने ईसा से बहुत शताब्दियों पूर्व भारत में शक्तिशाली प्रजातंत्र होने की बात कर और उसे साहित्यिक तथा मुद्रा संबंधी प्रमाणों के आधार पर सिद्ध कर विन्सेन्ट स्मिथ और कीथ इतिहासकारों को चुनौती दी जो शुद्ध साम्राज्यवादी भावनाओं से भारतीय इतिहास पर काम कर रहे थे । ब्रिटिश इतिहासकार - भारतीय इतिहास का शुद्ध साम्राज्यवादी दृष्टि से अवलोकन कर रहे थे, " विशाल भारत " ने उपर्युक्त लेख छापकर इस तरह की साम्राज्यवादी दृष्टि पर प्रहार किया । इसी सिलसिले में डा० सत्यनारायण सिंह का रेखाचित्र " पुश्किन "[3] भी देखा जा सकता है । लेखक के अनुसार पुश्किन का महत्व

---

1. विशाल भारत जनवरी 1928, पृ० 9
2. ,, ,, सितम्बर 1937, पृ० 235 - 42
3. ,, ,, ,, ,, पृ० 305-9

3

इस बात से है कि उन्होंने जनता को जाग्रत किया। जिस समय पुश्किन का जन्म हुआ था, उस समय रूसी भाषा गंवारू समझी जाती थी और रूस की चीजों का कोई महत्व नहीं था। फ्रेंच भाषा का महत्व अधिक समझा जाता था। रूसी समाज और संस्कृति फ्रेंच समाज और संस्कृति के नीचे दब चुकी थी। पुश्किन ने सरल भाषा में अपने साहित्य की रचना कर उसे जनता तक पहुंचाया। उन्होंने जनता में अपने साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना को फैलाने का कार्य किया। इस तरह जनता स्वदेशी साहित्य और संस्कृति की गरिमा को समझने लगी। विशाल भारत में इस तरह के रेखाचित्रों के प्रकाशन का उद्देश्य अंग्रेजी साम्राज्यवाद को चुनौती देना था।

'विशाल भारत' ने भारतीय संस्कृति का समर्थन और उसे बढ़ावा देने के नाम पर समाज में रूढ़ि गलत रिवाजों का समर्थन नहीं किया है। जैसा कि दूसरे अध्याय में बताया जा चुका है कि 'विशाल भारत' ने 19वीं शती के सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन की उस धारा से अपना संबंध स्थापित नहीं किया जिसके अग्रणी शशधर तर्क चूड़ामणि जी थे, जो अतीतकालीन भारतीय समाज और संस्कृति को उसी रूप में ग्रहण करने का आग्रह करते थे। इस पत्रिका ने तत्कालीन भारतीय समाज में भारतीय नारी की दुर्दशा पर करारा प्रहार किया है। पर्दा प्रथा का विरोध किया है और राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने हेतु भारतीय महिलाओं का आह्वान किया है।

रविन्द्रनाथ ठाकुर की पहली कहानी लेन देन[1] 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई है। इस कहानी की नायिका निरुपमा जो पांच भाइयों के बाद उत्पन्न हुई के पिता रामसुन्दर मित्र ने उसकी शादी रायबहादुर रईस के इकलौते लड़के से दस हजार रुपये पर तय की। शादी के दिन निरुपमा के पिता ने रुपए की पूरी राशि देने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। लड़के के पिता मंडप पर अपना कड़ा विरोध प्रकट करते हैं किंतु लड़के के आग्रह से शादी हो जाती है। लड़की के पिता की समधियाना में कोई इज्जत नहीं होती। नौकर-चाकर भी उन्हें नहीं पूछते। लड़की की भी कोई इज्जत नहीं होती। सास उसे हमेशा जलीकटी सुनाती थी। लड़की के पिता रामसुन्दर ने ब्याज पर कर्ज लेकर धीरे - धीरे तीन हजार रुपया जमा किया। वे

---

1. विशाल भारत अप्रैल 1929, पृ0 465-69, अनुवादक - धन्यकुमार जैन,। सम्पादक के अनुसार यह रवि ठाकुर की पहली कहानी है जो सं0 1948 में प्रकाशित हुई थी।

रुपया अदा करने के लिए समधियाना गये । रवि ठाकुर लिखते हैं - " इस तरह एक छोटी भूमिका बांधते हुए पसली की तीन हड्डियों के समान उन तीन नोटों को मानों बहुत आसानी से बड़ी लापरवाही से निकालें । "[1] किंतु, समधी ने इतनी कम राशि से लेने से इनकार कर दिया । बहुत दिनों बाद निरुपमा के पिता ने घर बेच कर रुपया जमा किया और पुनः समधियाना पहुंचे । उसी समय रायसुन्दर के लड़के भी आए और पिता से उन्होंने शिकायत की । निरुपमा ने अपने पिता से रुपया देने के लिए मना किया और आत्महत्या की धमकी दी । लड़की के पिता रुपया लिए वापस आए । कुछ दिनों बाद निरुपमा बीमार पड़ गईं । दवा के अभाव में वह अधिक दिनों तक नहीं जी सकी । लड़की के ससुर ने धूम धाम से उसका क्रिया-कर्म कर दिया । इधर लड़का, जो अब डिप्टी मैजिस्ट्रेट हो गया, को चिट्ठी आई बहू को भेजने के लिए । पिता ने सारा हाल लिखते हुए यह भी लिखा कि दूसरी लड़की ठीक हो गई है अबकी बार बीस हजार मिलेंगे ।

यह कहानी जमींदारी व्यवस्था में मानवीय संबंध को अर्थ के बटखरे से तौलने के खिलाफ एक करारा व्यंग्य है । इसी तरह रवि ठाकुर की दूसरी कहानी " सुभा "[2] जो एक गूंगी लड़की की कहानी है, समाज के विद्रूप पक्ष का उद्घाटन करती है । रवि ठाकुर का उपन्यास " कुमुदिनी "[3] भी " विशाल भारत " में प्रकाशित हुआ । कुमुदिनी का ब्याह किसी अधेड़ उम्र के व्यक्ति से होता है । उसे अपनी ससुराल में पराधीनता का अनुभव होता है । वह अपने भाई के घर चली जाती है । उसके पति के घर की औरतें उसके मैके आती हैं और बहुत अनुनय-विनय कर उसे उसकी ससुराल ले जाती हैं ।

सुदर्शन की कहानी " कायापलट "[4] इस पत्रिका में प्रकाशित हुई । गोपाल चन्द्र के अनुसार, जिनका नाम कहानी के अन्तिम पृष्ठ 268 पर छपा है, यह कहानी उर्दू पत्रिका " मिलाप " के इन्द्र बसन्त अंक में प्रकाशित हुई थी । लगता है कि विशाल

---

1. विशाल भारत अप्रैल 1929, पृ0 467
2. विशाल भारत मार्च 1929, पृ0 347-50, अनुवादक धन्यकुमार जैन ।
3. यह उपन्यास जून 1928 के पहले से विशाल भारत में धारा-वाहिक रूप में प्रकाशित हुआ । जून के पहले के दो अंक अप्राप्य हैं । जून के अंक से उपन्यास का शेषांश प्रकाशित होता रहा है । - शोधार्थी
4. विशाल भारत फरवरी 1930, पृ0 258-68

भारत में इस कहानी का अनुवाद प्रकाशित हुआ । यह कहानी पर्दा प्रथा पर लिखी गई है । कहानी के दो नारी पात्र हैं, रमा और सावित्री । सावित्री पर्दा प्रथा के खिलाफ लड़ती है जब कि रमा पर्दा प्रथा को हृदय से मानती है । अन्त में रमा को भी पर्दा प्रथा की बुराइयों का अहसास होता है ।

विशाल भारत में रामानन्द चैटर्जी अंक 1 से निकाला । रामानन्द चैटर्जी विशाल भारत के प्रकाशक थे । इस अंक में कुमारी ननिबाला राय का लेख " नारी - उद्धारक रामानन्द बाबू "[2] प्रकाशित हुआ । लेखिका के अनुसार जुलाई 1908 के " माडर्न रिव्यू " (पृ0 80) में उन्होंने लिखा - " यह एक विचित्र राष्ट्र है, जो केवल पुरुषों के बारे में सोचता है और स्त्रियों के अस्तित्व तक की उपेक्षा करता है । जब कभी मौका पड़ता है, तो राष्ट्रवादी लोग प्रतिकूल आलोचक का मुंह बन्द करने के लिए सीता, सावित्री और अहिल्याबाई का नाम लेते हैं । किन्तु बहुत अंशों में वे स्वयं स्त्रियों की सेवाओं (जो बहुधा नौकर की - सी होती है) से ही संतोष कर लेते हैं और यह भूल जाते हैं कि सीता और अहिल्याबाई ऐसे ही नहीं पैदा हो गई है । उनके मूल में एक खास संस्कृति और एक खास किस्म का समाजतन्त्र रहा है, जिनका एक मात्र लक्ष्य पुरुषों की शारीरिक सुविधाएं ही न था । यह ठीक है कि भारतीय पुरुष अपनी मां का आदर करते हैं और अपनी पत्नी की इच्छाओं को भी पूरा करते हैं । यह भी ठीक है कि कई स्त्रियों का मनोबल और आत्म-त्याग बहुत उन्नत होते हैं । पर यह भी सच है कि उनका मानसिक क्षितिज और कार्य क्षेत्र घर दीवार तक ही सीमित है । " देवी " कहकर उन्हें धोखा नहीं दिया जा सकता ।"[3]

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि विशाल भारत का उद्देश्य भारतीय समाज की रूढ़ियों पर प्रहार करते हुए अपने राजनीतिक आन्दोलन को तीव्र बनाना था । इसलिए विशाल भारत ने सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता " झांसी की रानी " प्रकाशित कर के भारतीय महिलाओं से राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने का आह्वान किया है ।

---

1. विशाल भारत फरवरी सितम्बर 1944
2. ,, ,, पृ0 160-64
3. ,, ,, पृ0 161

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं के अधिक अनुवाद प्राय: विशाल भारत ` में प्रकाशित हुए हैं। पत्रिका ने जनवरी 1942 में रवीन्द्रनाथ -अंक भी निकाला है। मई 1942 के विशाल भारत ` में रवीन्द्रनाथ की जन्मपत्री[1] (डॉ० ईश्वरी प्रसाद व्यास) प्रकाशित द्विवेदी लिखित रवीन्द्रनाथ की जन्मपत्री की प्रतिक्रिया में टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुई है। `विशाल भारत ` ने रवीन्द्र नाथ ठाकुर की रचनाओं को प्रकाशित करने के दो-तीन कारण थे। पहला कारण यह था कि उनकी रचनाएं सामाजिक कुप्रथाओं के खिलाफ लड़ी हुई विशेष रूप से तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दुर्दशा का बहुत प्रामाणिक चित्रण उनकी रचनाओं में मिलता है। दूसरा कारण रचनाओं का चरित्र प्रधान होना था। अधिकांश रचनाएं किसी एक चरित्र को लेकर विकसित होती हैं। चरित्र के इर्द -गिर्द वातावरण निर्मित करना रवि ठाकुर की एक विशेषता रही है। इस कड़ी में मैथिलीशरण गुप्त के काव्य ` साकेत ` को[2] भी देखा जा सकता है जिसके कुछ अंश ` विशाल भारत ` में प्रकाशित हुए थे। दूसरे लेखकों की कहानियों में भी चरित्र की प्रधानता रही है। ध्यातव्य है कि `विशाल भारत ` का स्वरूप शुद्ध साहित्यिक पत्रिका का नहीं रहा, यद्यपि उसका साहित्यिक मूल्य भी है जिसकी चर्चा आगे यथा स्थान की जाएगी। राजनीतिक आन्दोलन से इसका सीधा संबंध था। यहां गांधीवादी विचार धारा का प्रभाव भी स्पष्टत: परिलक्षित हुआ है। गांधी जी व्यक्ति के चरित्र पर बल देते थे। उनके अनुसार स्वस्थ चरित्र ही स्वस्थ समाज की रचना कर सकता है। ` विशाल भारत ` ने भी स्वस्थ चरित्र की प्रधानता दी, चाहे वह समाज की रूढ़ियों से अकेली जूझती हुई कुमुद हो या ` साकेत ` के मर्यादा पुरुषोत्तम राम हों।

रवि ठाकुर की रचनाओं में जो पात्र[2] आए हैं, वे अकेले संघर्ष करते हैं या क्रूर वास्तविकताओं से अलग होने की कोशिश करते हैं और फिर अन्त में कोई निष्कर्ष नहीं देते। ठीक इसके प्रतिकूल फांसी की रानी और साकेत ` के राम हैं जो

---

1. विशाल भारत मई 1942, पृ0 524-25
2. विशाल भारत फरवरी 1930 (पृ0 169-72), मार्च 1930 (पृ0 313-16) और अप्रैल 1930 (पृ0 457-60) में प्रकाशित ` साकेत ` का `चित्रकूट` अंश।
3. विशाल भारत में प्रकाशित रवि ठाकुर की रचनाओं के आधार पर।

7

निरन्तर संघर्षरत हैं। रवि ठाकुर की रचनाओं के माध्यम से ' विशाल भारत ' ने समाज की विद्रूपताओं से पाठकों को परिचित कराया है, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान और अन्य की रचनाओं के द्वारा एक आदर्श चरित्र को पाठकों के सामने खड़ा किया गया है। रवि ठाकुर की रचनाओं में जो कमी थी, वह ' साकेत ' और ' झांसी की रानी ' में पूरी हो जाती है। मूलतः ' विशाल भारत ' का उद्देश्य जनता में लड़ने की शक्ति का संचार करना था। इसलिए सत्यवती मलिक की कहानी ' एक झलक '[1] में एक जगह कहानी की मुख्य पात्र कहती है -- ' किंतु जीवन विकास के लिए बाहिर अदम्य शक्ति का प्रवाह जैसे उसने समाज की कठोर भित्ति को तूर कर शिक्षा प्राप्त की और विरोध एवं मनोमालिन्य के बाद स्थानीय कालेज में शिक्षिका के रूप में नियुक्त हुई। उसे लगा कि जैसे अपने इन्हीं मौसी सरीखी पुरातन नारियों के भीतर ही भीतर खौलने वाली हलचलों और तूफानों के सत्व से उसका निर्माण हुआ है। '[2]

समाज की कुरूपताओं को साहित्यिक कृतियों में किस प्रकार चित्रित किया जाए जिससे कि पाठक के मन में कुरूपताएं आकर्षित न कर सकें, बल्कि उसके खिलाफ गहरा आक्रोश पैदा हो? यह प्रश्न इस पत्रिका से जुड़े लेखकों के सामने रहा। वे स्वस्थ एवं उद्देश्य साहित्य के निर्माण की परिकल्पना लेकर चले। इसलिए उन्होंने आदर्श पात्रों के चित्रण को महत्व दिया। वे इस सम्बन्ध में जागरूक थे कि सामाजिक कुरूपताओं का चित्रण यदि पाठक के मन में कोई अनुराग पैदा करता है, तो ऐसे लेखन को सस्ते मनोरंजन प्रधान साहित्य में शामिल किया जा सकता है जिसका कोई उद्देश्य नहीं है। उद्देश्यपूर्ण (और मनोरंजन भी) साहित्य की रचना ही समाज को स्वस्थ दिशा प्रदान कर सकती है। इसी संदर्भ में ' विशाल भारत ' के प्रसिद्ध स्तंभ ' घासलेट ' साहित्य को भी देखा जा सकता है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने ' घासलेट साहित्य '[3] शीर्षक से एक लेख लिखा।

---

1. विशाल भारत मई 1943 पृ0 344-47
2. वही पृ0 346
3. विशाल भारत सितम्बर 1929, पृ0 357-64

8

यह लेख देवनशर्मा ' उग्र ' के ' चाकलेट ', स्कुमारी देवी के ' अबलाओं का इंसाफ ' और प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार के ' ब्रह्मचर्य संदेश ' की प्रतिक्रिया में लिखा गया है । घासलेट साहित्य की परिभाषा क्या है, यह विद्यालंकार जी के निम्नांकित विचारों से स्पष्ट हो जायगा - ' शरीर शास्त्र तथा शरीर-क्रिया - शास्त्र की वैज्ञानिक पुस्तकों में गुह्येन्द्रियों की रचना तथा उनकी क्रियाओं का सम्पूर्ण वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया जाता है, तथापि उन्हें पढ़ते हुए सम्भवत: अधम कोटि की मनोवृत्तिवाले व्यक्ति का हृदय भी कुत्सित नहीं होने पाता । इन पुस्तकों को पढ़ते हुए मनुष्य का ध्यान एक ऐसी दिशा की ओर केन्द्रित रहता है, जो दिशा इन विषयों का ध्यान बिल्कुल विशुद्ध और निर्मल स्वरूप में देती है । यदि लेखक समाज की इन बुराइयों को देख कर तड़प उठे हैं - जिसमें सन्देह करना उचित नहीं - तो उन्हें भी ऐसी वैज्ञानिक शैली का अनुसरण करना चाहिए था ।[1] आगे वे लिखते हैं ' मैं उन बन्धुओं से यह नम्र निवेदन करना चाहता हूं कि इस गन्दगी का भंडाफोड़ करना तो बेशक बुरा नहीं, परन्तु इस गन्दगी को आकर्षक रूप में पेश करने वाले लोगों को प्रतिक्षण यह ध्यान रखना चाहिए कि यह ' गन्दगी ' गन्दगी होते हुए भी साधारण मनुष्य - समाज के हृदय को चुम्बक की तरह से अपनी ओर आकर्षित कर लेती है, इसलिए इस गन्दगी का प्रदर्शन बड़ी जिम्मेदारी के साथ करना चाहिए ।[2]

विद्यालंकार जी की दृष्टि में साहित्य के उद्देश्य (इंन्टेन्शन) का स्पष्ट होना जरूरी है । यदि गन्दगी को फैलाने के लिए ही साहित्य रचा जा रहा है, और उसके साथ में सत्साहित्य का प्रचार किया जाता है, इनका विरोध होना आवश्यक है । यह दोहरापन साहित्य में नहीं चलेगा । लबादा बड़ा पाक हो और आत्मा मैली हो तो वह मनुष्य सज्जनता को कैसे प्राप्त कर सकता है । गन्दगी का प्रचार करना उद्देश्य नहीं है बल्कि वह तो पाप है जिसका विरोध हमें करना है । इसे और ज्यादा अच्छी तरह समझने के लिए विशाल भारत ' में प्रकाशित घासलेटी साहित्य संबंधी दूसरे लेखों को भी देखना चाहिए ।

---

1. विशाल भारत सितम्बर 1929, पृ० 350
2. विशाल भारत सितम्बर 1929, पृ० 354

9

उस समय शिवशंकर मिश्र नाम के एक लेखक हुआ करते थे, जो दाम्पत्य विषयक ग्रंथावली के लेखक और प्रकाशक थे। इस ग्रंथावली के अन्तर्गत (1) दाम्पत्य विज्ञान (2) जनन विज्ञान (3) नारी-विज्ञान (4) काम-विज्ञान (5) मनचाही संतान आदि पुस्तकें संकलित हुईं। गंगाप्रसाद मोतिका काव्यतीर्थ[1] ने इस दाम्पत्य ग्रंथावली के विरोध में " घासलेटी साहित्य और प्यारा वार्द्धक्य " शीर्षक से एक लेख लिखा। इस लेख के जवाब में " घासलेटी साहित्य और मोतिका जी "[2] शीर्षक से शिवशंकर जी मिश्र का पत्र प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने मोतिका जी की आलोचना की। इसी अंक में सम्पादक की टिप्पणी भी प्रकाशित हुई। सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी को " काम-विज्ञान " पुस्तक देखने को मिली। इस पुस्तक के कुछ प्रमुख अंश भी इसी अंक में छपे, जैसे -

" शंखिनी की शैय्या - शंखिनी जातीय नारी की प्रसन्नता के लिए कपास के दूध के समान समुन्नत और सुकोमल शय्या होनी चाहिए।

हस्तिनी की शय्या - पुष्प शय्या या कपास की बनी हुई सेज हस्तिनी जाति की रमणी को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह केवल ऐसी शय्याओं से अपना चित्त विनोदन नहीं कर सकती। उसके चित्त-रंजन के लिए यदि ये शय्याएं हों तो अच्छा ही है, यदि न हों तो भी कोई हानि नहीं। "[3] (काम-विज्ञान, पृ0298)।

सम्पादक की राय में शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से इन पुस्तकों का लिखना आपत्तिजनक नहीं है परन्तु ऐसा होता नहीं। जैसे, " काम-विज्ञान " पुस्तक काम के वैज्ञानिक विश्लेषण के स्थान पर कामवासना के उतार चढ़ाव पर ज्यादा ज़ोर देती है।

शिवशंकर मिश्र के इस पत्र की प्रतिक्रिया में गंगाप्रसाद मोतिका, एम.ए.बी.एल., काव्यतीर्थ की टिप्पणी " घासलेटी साहित्य और " दाम्पत्य ग्रंथावली "[4] शीर्षक से प्रकाशित हुई। मोतिका जी के अनुसार जिसके लिए साहित्य-रचना का कार्य आर्थिक लाभ-हानि से जुड़ा हुआ हो, उसके लिए उचित - अनुचित का प्रश्न नहीं उठता।

---

1. विशाल भारत नवम्बर, 1928; इस लेख के पृष्ठ गायब थे।
2. विशाल भारत अप्रैल, 1929, पृ0 553-55
3. विशाल भारत अप्रैल, 1929 , पृ0 555-56
4. विशाल भारत जून 1929, पृ0 788-89

10

लेखक की दृष्टि में जो साहित्य काम-भावना को उद्दीप्त करता है, वह अश्लील साहित्य है, उसे लेखक पासलेटी साहित्य भी कहता है। यहां भी यह स्पष्ट है कि स्वस्थ साहित्य की रचना या उद्देश्य काम-भावना को उद्दीप्त करने के लिए उस तरह के वातावरण को निर्मित करना नहीं है। जो लेखक ऐसा करते हैं, उनके पीछे चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, बी. एस.सी; बी. टी. (पासलेट - साहित्य हिन्दी - साहित्य की छीछालेदर)[1] के अनुसार उनकी अज्ञानता, धनोपार्जन की प्रवृत्ति और तीव्र उत्कंठा कार्यरत रहती है।

' विशाल भारत ' की दृष्टि में साहित्य का उद्देश्य सामाजिक बीमारियों को दूर करना है न कि उसे बढ़ाना। जो साहित्य सामाजिक बीमारियों को दूर करने के बजाने बीमारी बढ़ाने के उद्देश्य से रचा जाता है, उसके खिलाफ संगठित रूप से आन्दोलन चलाने की आवश्यकता है। इसलिए ' विशाल भारत ' ने ऐसे साहित्य के खिलाफ जनता में एक वातावरण तैयार करने का प्रयास किया। इस पर कई आरोप लगाए गए। पत्रिका में प्रकाशित ' पासलेट - विरोधी आन्दोलन '[2] शीर्षक से उपसंहार प्रकाशित हुआ जिसमें इन सब का विस्तार से वर्णन मिलता है।

जुलाई 1927 में सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी ' आर्यमित्र ' के सम्पादकीय विभाग में कार्य करते थे। उनकी एक माई ने पाण्डेय बेचन शर्मा ' उग्र ' जी की पुस्तक ' दिल्ली का दलाल ' उन्हें पढ़ने को दी। पुस्तक पढ़ने के बाद सम्पादक ने अपनी माई से राय जाननी चाही। उनकी माई ने कहा कि अमुक लेखक ने इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा की है। सम्पादक के मन में इस तरह की पुस्तकों के विरुद्ध लिखने का विचार आया। उन्होंने पं० सुन्दरलाल जी और गिल्हानी जी से भी बातचीत की। गिल्हानी जी ने कोई आन्दोलन चलाने से मना किया। नवम्बर 1927 में चतुर्वेदी जी ने ' विशाल भारत ' के सम्पादक का कार्य-भार संभाला। इसके साथ ही पासलेटी साहित्य के विरुद्ध आन्दोलन का श्री गणेश भी उन्होंने ही किया। ------- इस आन्दोलन पर कई तरह के आरोप लगाए गए। ग्रीष्म सं० 1985 की ' समालोचक ' में निराला जी ने लिखा - ' इस संदिग्ध परिस्थिति में कुछ

---

1. विशाल भारत जून 1929, पृ० 783-88
2. विशाल भारत दिसम्बर 1929, पृ० 816-21

11

दूसरे लोग मैदान में आए हैं। कोई नवीनता न सूझी, तो किसी प्रान्त में ही उल्टे- सीधे बह चले। ' विशाल भारत ' के सम्पादक पं0 बनारसीदास चतुर्वेदी और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी अध्यापक, छात्र- संसार में लब्ध कीर्ति पं0 रामचन्द्र शुक्ल इसी श्रेणी के हैं। ' विशाल भारत ' के सम्पादक को अपने पत्रों में कोई मौलिकता उत्पन्न करनी थी। उन्होंने छायावाद और ' घासलेट साहित्य ' की कल्पना निकाली। अब देखें ' छायावाद ' का क्या निष्कर्ष ' विशाल भारत ' निकालता है। यदि चतुर्वेदी जी एक लेख महात्मा जी से इसी संबंध में लिखा लें, विशेष रूप से खण्डनात्मक, तो शायद उन्हें इतना हैरान न होना पड़े।'[1] सम्पादक के अनुसार उन्हीं दिनों कलकत्ते के एक पत्र में घासलेटी कहानी धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रही थी। किसी ने गांधी जी का ध्यान इसकी ओर आकर्षित कराया। उन्होंने हिन्दी ' नवजीवन ' में उसकी आलोचना की। सम्पादक का कहना है कि ' मतवाला ' ने धारावाहिक कहानी ' पर्दे में पाप ' बन्द कर दी, ' हिन्दू पंच ' ने ' व्यभिचार मन्दिर ' को अन्तिम नमस्कार किया। यह घासलेटी आन्दोलन का परिणाम हो या और कोई कारण, हो, लेकिन ऐसा हुआ।

सम्पादक आगे लिखते हैं कि ' कर्मवीर ' ' प्रताप ' और ' सरस्वती ' से समर्थन मिलने की आशा थी किन्तु ये लोग उसके खिलाफ गए। ' सरस्वती ' ने लिखा - ' जो इतने निर्बल चरित्र हैं कि एक कहानी पढ़ने से ही मोरी में गिर पड़ते हैं, उनका भगवान ही मालिक है। और ऐसे निर्बल चरित्र वालों के लिहाज से कोई लेखक अपने कला-प्रदर्शन द्वारा समाज का उपकार करने के काम से कैसे विमुख हो सकता है।'[2] इसके ' सरोज ' (सं, नवजादिक लाल), ' भार ' (सं0 प्रद्युम्न कृष्ण कौल) ने आगरा तथा काशी नागरी - प्रचारिणी सभा ने विशाल भारत ' के घास-लेटी साहित्य विरोधी आन्दोलन का समर्थन किया। सुन्दरलाल जी ने आन्दोलन को आगे बढ़ाने की सलाह दी। प्रेमचन्द जी का कहना था - ' मैं

---

1. विशाल भारत दिसम्बर, 1929 , पृ0 816

2. वही पृ0 821

12

साहित्य में नग्न कुवासनाओं का दिग्दर्शन बहुत ही हानिकारक समझता हूं। 'घासलेट' आदि को रोकने के लिए सबसे अच्छा तरीका पैम्फलेट छपाना है। साहित्य में उसको लाने की जरूरत नहीं। अगर कोई आदमी चोरी को रोकने के लिए चोरकला की व्याख्या करे, - यों घर वालों को मिलाया, यों रात को गया, यों ताले को तोड़ा, यों सेंध लगाया, यों घर वालों को जागते देख कर दुबक गया, फिर सबेरे सो जाने पर यों माल उड़ाया, -- तो चोर को चाहे उससे लज्जा न आवे, पर ऐसा लोगों को यह कला आ जायगी जो अभी तक चोरी का साहस न कर सकते थे। बहुत से लोग केवल इसलिए वेश्याओं से बचे रहते हैं कि उन्हें इस कूचे की रीति-नीति नहीं मालूम। अगर कोई वेश्यागामियों को लज्जित करने के इरादे से ही क्यों न हो, उस रीति का रहस्य खोल दे, तो उन लोगों की झिझक दूर हो जायगी और वे खुल खेलेंगे। साहित्य का प्रभाव चरित्र पर बहुत पड़ता है। साहित्य का उद्देश्य ही चरित्र - निर्माण है, इसलिए इस काम में अपने आदर्शों और उद्देश्यों को पवित्र रखना चाहिए।

घासलेट साहित्य का आन्दोलन आपने बन्द कर दिया, बहुत अच्छा किया।[1]

अपनी ग्राहक संख्या में वृद्धि करते और कुछ मौलिकता उत्पन्न करने के लिए 'विशाल भारत' ने घासलेटी साहित्य विरोधी आन्दोलन चलाया, यह आरोप इस लिए निराधार है कि पत्रिका के प्रकाशन के पीछे कार्यरत विचारधारा की पृष्ठभूमि में इस आन्दोलन का अध्ययन करना चाहिए। यह विचार पूरा गांधीवादी थी। गांधी जी का मत था कि सात्विक चरित्र समाज की बीमारियों को दूर कर सकते हैं। इसलिए पहले चरित्र को सात्विक बनाना होगा। इसी को ध्यान में रखते हुए महात्मा गांधी ने हृदय परिवर्तन की बात कही। उन्होंने कहा कि जमींदारी का हृदय-परिवर्तन किया जाय। गांधी जी ने सीधे-सीधे जमींदारी प्रथा पर प्रहार नहीं किया, उसके आर्थिक पहलुओं का विश्लेषण नहीं किया, जिसके कारण घीसू और माधव जैसे किसान अकर्मण्य और आलसी होते बल्कि उनकी अकर्मण्यता

---

1. विशाल भारत, दिसम्बर 1929, पृ0 822

13

और आलसीपन उनकी आंखों में गड़ गए । इसलिए उन्होंने व्यवस्था में कोई सुधार लाने के बदले चरित्र में सुधार लाने की बात की । यह नहीं देखा कि बिगड़ा हुआ चरित्र इसी व्यवस्था की उपज है । इसलिए गांधी जी के नेतृत्व में चल रहे आन्दोलन में जमींदार और किसान दोनों शरीक हुए ।

' विशाल भारत ' भी इसी दृष्टि को लेकर चला । ' कुमुदिनी ' के उपन्यास (रवीन्द्र ठाकुर) की कुमुद ' अनमेल विवाह से पीड़ित है, ' लेनदेन ' की निरुपमा दहेज - प्रथा की शिकार है, किंतु इन सबके पीछे आर्थिक कारणों की कोई व्याख्या नहीं है । इन सब के पीछे सुधारवादी दृष्टि है । ' साकेत ' के मर्यादा पुरुषोत्तम राम का ' विशाल भारत ' के मंच पर आगमन इसी दृष्टि का परिचायक है । सरस्वती ' ने भी सुधारवादी दृष्टि से ही घासलेटी साहित्य के आन्दोलन पर विचार किया । प्रेमचन्द की दृष्टि भी कमो-बेश वही है । ' सरस्वती ' ने आन्दोलन की आलोचना के पीछे आर्थिक आधार प्रस्तुत नहीं किया बल्कि ' विशाल भारत ' को स्मरण दिलाया कि ऐसे निन्द्य चरित्रों के प्रति सहानुभूति से विचार किए जाने की आवश्यकता है । प्रेमचन्द ने सावधान किया कि कहीं आन्दोलन का उलटा प्रभाव न पड़ जाय और ऐसा न हो कि घासलेटी प्रवृत्ति का प्रचार होने लगे, जनता बड़ी उत्सुकता से ऐसे साहित्य पर नजर गड़ाने लगे । प्रेमचन्द भी चरित्र की प्रधानता को स्वीकार करते हैं और ' चाकलेट ' (बेचन शर्मा उग्र का कहानी संग्रह) की आलोचना कर कम-से-कम उन्होंने इतना जतला दिया है कि इस तरह के चरित्र की सर्जना कर साहित्यकार पाठकों को स्वस्थ साहित्य नहीं देते हैं । वे भी साहित्य में उद्देश्य को ज्यादा महत्त्व देते हैं । इस प्रकार पक्ष और प्रतिपक्ष के लोगों ने सुधारवादी दृष्टि से ही इस आन्दोलन पर विचार किया । यह समानता हमें अवश्य दिखलाई पड़ती है ।

' चाकलेट ' की भूमिका में उग्र जी लिखते हैं --

' चाकलेट ' देश के भोले -भाले कमसिन और सुन्दर लड़कों को कहते हैं जिन्हें समाज के राक्षस वासना की तृप्ति के लिए सर्वनाश के मुख में धकेलते हैं । ये बच्चे समाज की अच्छी - अच्छी तह से नष्ट किये जाते हैं और दुश्चरित्र बनाये जाते हैं । प्रान्त - प्रान्त में इनके भिन्न - भिन्न पर्याय हैं, युक्त प्रदेश के लिए लोग उन्हें ' चाकलेट ' ' पाकेट बुक ' आदि नामोपनामों से याद करते हैं । ' (चाकलेट पृ0 101)' [1]

---

1. मोहन लाल रत्नाकर पाण्डेय-बेचन शर्मा ' उग्र ' : कहानीकार : उपन्यास

14

डा० रत्नाकर की पुस्तक के 146 पृष्ठ पर उग्र की पुस्तक ' अपनी खबर ' से एक उद्धरण दिया गया है जो इस प्रकार है - " मेरी पुस्तक ' चाकलेट ' के वजन पर 'चाकलेटी ' आन्दोलन मेरे विरुद्ध चलाया था । इन्हीं दिनों एक नहीं, दो ३ दो बार गांधी जी ने मेरी पुस्तक ' चाकलेट ' पढ़ी थी और उसके लेखक की सच्चाई का समादर ' चाकलेट ' की निन्दा करना अस्वीकार कर दिया था । हिन्दी वालों के कोवा - रोर में एक प्रहार स्पष्ट यह था - आक्षेप मुझ पर - कि मैं अश्लील साहित्य टके के लिए लिखता हूं । मेरा विश्वास आज भी यही है कि रुपये हीकमाना हो, तो कहानी - उपन्यास लिखने से कहीं सरल धन्धे और हैं । " डा० मोहन लाल रत्नाकर के अनुसार " एक कहानी संग्रह को लेकर बनारसीदास चतुर्वेदी ने उग्र के विरुद्ध चाकलेटी आन्दोलन चलाया और अपने दुराग्रह की पुष्टि के लिए 24 वर्षों तक महात्मा गांधी की राय को छुपाये रखा । "[1]

' चाकलेट ' की भूमिका से यह बात साफ होती है कि लेखक का उद्देश्य " धनोपार्जन नहीं था उसके साहित्य का उद्देश्य समाज की अश्लीलता को उघाड़ना था । चन्द्रगुप्त विद्यालंकार जी के लेख से यह स्पष्ट हो चुका है कि उनकी दृष्टि में अश्लीलता के उद्देश्य को लेकर रचित साहित्य का विरोध होना चाहिए । यह विरोध सर्वथा उचित है । इससे किसी की असहमति नहीं हो सकती । परन्तु उग्र जी के लेखन की विवादास्पद भूमि अश्लीलता क्यों बनी ? समाज की अश्लीलता को उजागर करना अश्लील होना नहीं है । जिस तरह ' विशाल भारत ' ने साहित्य के दूसरे पक्षों को राजनैतिक आन्दोलन से जोड़ने का प्रयास किया और उसमें उसे सफलता मिली, उसी तरह समाज की अश्लीलता के खिलाफ रचित साहित्य को राजनैतिक आन्दोलन से जोड़ने का प्रयास क्यों नहीं हुआ ? वैश्यावृत्ति, नशाखोरी और सम लैंगिक संबंध का रिश्ता आदि बुराइयों का संबंध समाज के किस वर्ग से है ? वह वर्ग पूंजीपतियों का है । इसकी जड़ आर्थिक है । ऊपर -ऊपर चलने से चतुर्वेदी जी और विद्यालंकार जी को इसकी जड़ का पता क्या चलता ? चतुर्वेदी जी के ऊपर ऊपर चलने की अपेक्षा समस्याओं को वामपंथी ढंग से देखने की एक और

पृ० 101, प्रकाशक कुसुम चरण जैन एवं संतति, दिल्ली - 6, 1974

1. मोहन लाल रत्नाकर-पाण्डेय बेचन शर्मा ' उग्र ' : कहानीकार : उपन्यासकार पृ० 66 ।

15

विवाह विरोध । ' विशाल भारत ' में बलराज साहनी की कहानी ' शहजादों का हिंदस ' प्रकाशित हुई । ' विशाल भारत ' में लगातार प्रकाशित होने वाली लेखिका श्रीमती सत्यवती मलिक ने मुझे बताया कि ' शहजादों का हिंदस ' कहानी को चतुर्वेदी जी ने इस कारण से वापस कर दिया था कि उसमें शराबियों की चर्चा है, शराब की चर्चा है । भला शराब की चर्चा चतुर्वेदी जी कैसे बर्दाश्त कर सकते थे । बाद में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार जी ने चतुर्वेदी से कहा कि यह कहानी बहुत अच्छी कहानी है, इसका उद्देश्य शराब की चर्चा करना नहीं है । इसे प्रकाशित करना चाहिए । विद्यालंकार जी की सिफारिश पर यह कहानी प्रकाशित हुई । इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्पादक का उद्देश्य दहेज प्रथा का विरोध, वेश्यावृत्ति का विरोध, और समलैंगिक संबंधों का विरोध अवश्य था लेकिन इन समस्याओं की जड़ तक जाने की कोशिश सम्पादक ने नहीं की । उन्होंने फुनगी को छुआ, जड़ को नहीं । शायद इसका असर राजनीतिक आन्दोलन पर भी पड़ता ।

विनोद शंकर ने बनारसीदास चतुर्वेदी पर अपने एक संस्मरण में लिखा कि एक बार वे और उग्र जी कलकत्ता के हैरिसन रोड पर चतुर्वेदी जी से मिले। उग्र उन्हें देखते ही उबल पड़े । आलंकारिक शब्दों की बरसात शुरू हो गई । व्यास जी ने उन्हें सावधान किया । चतुर्वेदी जी अपनी नीची निगाह किये हुए दूर हो गए । व्यास जी लिखते हैं - " .... प्रत्यक्ष रूप में उग्र की उग्रता को झेल लेना उनके जैसे सरल नीतिकुशल के साहस का सामर्थ्य नहीं था ।[1] चतुर्वेदी जी ने उग्र जी से बातचीत करना भी उपयुक्त नहीं समझा । अश्लील साहित्य के लेखक से क्या बातचीत हो सकती थी ? इसी पुस्तक में व्यास जी ने लिखा है कि चतुर्वेदी जी बापू का चरण छूकर मैदान में उतरे । परन्तु अपनी खबर ' के उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि स्वयं बापू भी उग्र जी को घासलेटी लेखक नहीं मानते थे । उसी संस्मरण में व्यास जी ने चतुर्वेदी जी पर यह आरोप लगाया है कि अपनी प्रसिद्धि के लिए उन्होंने उग्र और प्रसाद की आलोचना की, घासलेटी आन्दोलन चलाया । निराला ने भी कुछ इसी तरह का आरोप लगाया ।

---

1. विनोद शंकर व्यास - प्रसाद और उनके समकालीन - पृष्ठ 113, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी - 1 सं0 2017 वि.। सं0 1960 ई0

16

इस आरोप का कोई आधार नहीं है। ' विशाल भारत ' के घासलेटी साहित्य विरोधी आन्दोलन के पीछे सुधारवादी दृष्टि थी, जिसका राजनीतिक आन्दोलन से संबंध था। चतुर्वेदी जी की दृष्टि की सीमा की आलोचना हो सकती है, लेकिन व्यक्तिगत स्तर पर यह आक्षेप उन्हें शोभा नहीं देता, दूसरे इस आक्षेप का कोई आधार भी नहीं दिखलाई पड़ता। पत्रिका का संबंध राजनीतिक आन्दोलन से रहा, उसमें भी कुछ सीमा तक यह गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित रही। इसलिए इसी परिप्रेक्ष्य में ही घासलेटी साहित्य विरोधी आन्दोलन का मूल्यांकन करना चाहिए।

जिस सुधारवादी दृष्टि के कारण ' विशाल भारत ' ने घासलेटी ' आन्दोलन चलाया, उसी दृष्टि का प्रक्षेपण राजनीतिक विचार में भी हुआ है। पत्रिका में प्रकाशित साहित्य का एक विचारणीय पक्ष इसकी राजनीतिक विचार धारा भी है। राजनीतिक आन्दोलन की तीव्र गति की आवश्यकता को महसूस करते हुए ' विशाल भारत ' ने अपने समय की राजनीतिक गतिविधियों में खुल कर हिस्सा लिया। ब्रिटिश शासन के खिलाफ इसका रोष खुलकर व्यक्त हुआ है।[1]

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी ' काम-काज ' और बलराज साहनी की कहानी ' शहजादों का ड्रिंक '[2] इसके प्रमाण हैं। काम काज कहानी का पात्र जो क्वेटा के भूकम्प का शिकार है, लाहौर पहुंचता है। वह एक दुकानदार लाला कस्तूरीमल की दुकान पर कपड़ा खरीदने जाता है। दुकानदार बहुत सकुचाते हुए ग्राहक से पूछता है ---

' आप विदेशी कपड़ा तो नहीं पहनते न ? '

' जी नहीं ? मुझे स्वदेशी कपड़ा ही चाहिए । '

हम खुद यहां तक बन पड़ता है, स्वदेशी माल ही बेचते हैं .... ।[3]

यहां कहानीकार के कहने का आशय यह है कि देश का पूंजीपति वर्ग जनता के भय से स्वदेशी माल बेचता है। बाहर - बाहर दिखलाने के लिए तो स्वदेशी माल की बिक्री होती थी, भीतर - भीतर विदेशी माल भी बेचे जाते थे। यह देश के पूंजीपति वर्ग का दुहरा चरित्र था।

---

1. विशाल भारत मार्च 1937, पृ0 267-72
2. विशाल भारत फरवरी 1937 का अंक, पृ0 209-215
3. वही पृ0 268

भीष्म साहनी की कहानी ' शहजादों का ड्रिंक ' का नायक अपने दोस्त की बारात में जा रहा जाता है। किसी स्टेशन पर एक यात्री अपनी पत्नी के साथ बारात वाले रिजर्व डिब्बे में चढ़ने की अनुमति मांगता है, चूंकि गाड़ी ने उस समय तक सीटी दे दी थी। कहानी के नायक केवल का दोस्त जगदीश, जिसकी शादी होने वाली है, उसे अनुमति नहीं देता। किंतु कुछ ही क्षणों बाद बुर्के में ढकी उसकी पत्नी की आंखों पर मोहित होकर वह उसे अनुमति दे देता है। कहानी के नायक केवल को यह यात्री परिचित लगता है। उसे स्मरण होता है कि आज से दस साल पहले कभी रामजी एक स्कूल मास्टर हुआ करते थे जो उसे पढ़ाते थे। यह यात्री कंशीराम ही है। इस बीच केवल के सभी दोस्त शराब के नशे में धुत हो जाते हैं। दूसरे स्टेशन पर गाड़ी रुकती है, पुलिस उस डिब्बे में आती है और कंशीराम को गिरफ्तार कर लेती है। केवल पुलिस को बताता है कि कंशीराम उसका सगा भाई है। यात्री कंशीराम से पूछने पर वह उसे नकार देता है। केवल चीखता, चिल्लाता है, उसके सारे दोस्त हक्के-बक्के हो जाते हैं। उसे इसका अफसोस है कि कंशीराम ने उसे नहीं पहचाना। परन्तु केवल और उसके दोस्तों को क्या मालूम कि स्वाधीनता संग्राम में शरीक एक स्कूल मास्टर को अंग्रेज पुलिस क्यों गिरफ्तार कर ले जाती है।

यह कहानी यह दर्शाती है कि एक तरफ शहजादों का ड्रिंक चल रहा है, दूसरी तरफ एक स्कूल मास्टर स्वाधीनता संग्राम में दिलोजान से हिस्सा ले रहा है। उसे न तो अंग्रेजों की सहानुभूति वांछित जो मुश्किल है और न केवल की जो व्यक्तिगत संबंध मात्र को पाटकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है। कहानी यह प्रेरणा देती है कि घर में आग लगी है तो पहले आग बुझानी होगी। न कि शराब की गंगा में गोता लगाना होगा। पहले स्वाधीनता संग्राम है तब कुछ और। हम अपने ही घर में गुलाम बने हुए हैं और गुलामी के खिलाफ लड़ने वालों से प्रेरणा भी नहीं लेते। आज युवा पीढ़ी की मानसिकता विभाजित है, यह कहानी एकता की बात करती है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी गीरा [1] 'विशाल भारत ' में प्रकाशित हुई

---

1. विशाल भारत मई 1929, पृ0 663 - 67

18

इस कहानी का नायक जीवन है जो एक दिन किसी बछड़े को गीदड़ के आक्रमण से बचा कर अपने घर ले आया । उस बछड़े का नाम उसने रखा, 'गोरा' । उसके गांव में हर साल बैल प्रतियोगिता होती थी और इस प्रतियोगिता में गांव के जमींदार लखपति सिंह बाजी मार ले जाते थे । उस साल प्रतियोगिता में जीवन आगे हो गया । उसके बैल को प्रथम पुरस्कार मिला । जमींदार साहब ने कुछ ही दिनों बाद जीवन को अपने घर बुलाकर उससे बैल बेचने को कहा लेकिन जीवन ने बैल बेचने से इनकार कर दिया । अगले दिन जमींदार साहब उससे बेगार का काम लेने लगे । एक दिन उन्होंने जीवन को गांव के पास वाले जंगल से लकड़ी काटने के लिए भेजा । गांव और जंगल के बीच एक नाला पड़ता था । जब वह लकड़ी काटकर लौट रहा था तो अचानक रास्ते में बारिश होने लगी । थोड़ी दूर पर उसने एक शेर को देखा । शेर ने गरजते हुए गोरा की तरफ आगे बढ़ा । जीवन ने इतने में आगे बढ़ कर अपने प्राणों की बलि दे दी और गोरा को बचा लिया । जीवन का आत्म बलिदान सारे गांव में प्रसिद्ध हो गया । जमींदार साहब भी लज्जित हुए । उस दिन के बाद उन्होंने कभी गोरा के लिए आग्रह नहीं किया ।

इसी कड़ी में जैनेन्द्र कुमार की कहानी 'चोरी'[1] का भी अवलोकन करें । यह कहानी कर्ज से लदे लक्खू नामक किसान की है जिसने तीन साल पहले महाजन से आलू का बीज लिया था, जिसकी कीमत आठ रुपए थी । ब्याज लगते - लगते वह पचास रुपए हो गई । महाजन ने लक्खू के घर को नीलाम करने की स्थिति में ला छोड़ा । कोर्ट से उसे डिग्री भी मिल गई । इस तरह लक्खू का घर नीलाम हो गया । एक दिन लक्खू पेड़ के नीचे बैठा हुआ था, उसी समय उसकी भेंट उसके दोस्त धन्नू से हुई । धन्नू ने उसकी सारी कहानी सुनी और उससे कहा ---

"पर कहां है वह तुम्हारी मेहनत और उसका फल । सूखकर तुम कांटा हो गए हो, पैसे - पैसे के तुम मुहताज हो । ...... वह महाजन बड़ी मेहनत करता है न फूल के बोरा बन रहा है ।"[2] धन्नू उसे कहता है कि अब लूट, चोरी, डकैती या कोई क्रांति होगी । लक्खू को यह बात अच्छी नहीं लगी । वह जंगल के एक शिवालय में रहने लगा । एक महीने बाद चोरी-छिपे आम तोड़ने के अपराध में वह पकड़ा गया । मजिस्ट्रेट साहब ने उसे दो साल की सजा सुनाई । लेखक के अनुसार

---

1. विशाल भारत, जून 1929 पृ0 755-59
2. वही पृ0 758

19

छक्कू जेल से निकलने के बाद छूटा हुआ चोर निकला । लेखक का कहना है कि धन्नू की शिक्षा और जेल की शिक्षा में बहुत बड़ा अन्तर था ।

समाज की व्यवस्था शोषण पर टिकी हुई है । इस शोषण के खिलाफ आवाज़ उठनी चाहिए । छक्कू सिंह का चोर होना इसी शोषण का परिणाम है । जैनेन्द्र की कहानी में ' चोरी ' डकैती का जिक्र आया है लेकिन पूरी कहानी छक्कू सिंह की जिन्दगी पर आधारित है । कर्ज से लदे एक किसान की जिन्दगी का अन्त क्या होता है ? चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी में आत्म-बलिदान की कहानीकार का आशीर्वाद मिला है अर्थात आत्म-बलिदान ही एक ऐसा साधन है जिससे शोषण का भी सामना हो सकता है और आजादी भी मिलेगी, ही क्योंकि आजादी पाने के लिए ही तो ' विशाल भारत ' ने जमींदार और किसान की एकजुटता की बात कही । शायद इन लेखकों को पता नहीं था कि राजनैतिक आजादी का आर्थिक ~~आजादी~~ से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । इतना सत्य है कि छक्कू सिंह की स्थिति में सुधार जीवन के आत्मघ बलिदान से नहीं हो सकता । राजनैतिक आन्दोलन में जमींदारों की हिस्सेदारी के पीछे उनका वर्ग हित था जिसे ' विशाल भारत ' इसलिए रेखांकित कर गया कि कहीं राजनैतिक आन्दोलन विभाजित न हो जाय । महात्मा गांधी भी ऐसा ही सोचते थे । कांग्रेस भी ऐसा ही सोचती थी । याद कीजिए कि बारदोली कांग्रेस पर ' विशाल भारत ' के उद्गार ।

इस प्रकार यह सही है कि ' विशाल भारत ' ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ जनता को एकजुट करने की कोशिश की, लेकिन जनता के विषय में उसकी क्या अवधारणा थी ? यदि ' विशाल भारत ' की जनता के बारे में स्पष्ट परिकल्पना भी थी तो फिलहाल उसने उसे किनारे ही रखा क्योंकि राजनैतिक आन्दोलन को आगे बढ़ाने का सवाल मुख्य था । यह भी सुधारवादी दृष्टि का ही परिणाम है ।

20

सुधारवादी दृष्टि के कारण "विशाल भारत" अपने समय के प्रगतिवादी आन्दोलन से स्वयं को नहीं जोड़ सका। कहीं उसे इस आन्दोलन से पार्टी साहित्य की गंध आने लगी तो कहीं भावना के उच्छ्वास को इसने साहित्य सर्जना माना।

"साहित्य मन्दिर" में शीर्षक लेख[1] में बनारसीदास चतुर्वेदी ने क्रोपाटकिन और आचार्य नरेन्द्र देव के विचारों का समर्थन किया है। क्रोपाटकिन का कहना है कि व्यक्ति-विशेष या पार्टी की डिक्टेटरी से क्रांतिकारी आन्दोलन का खात्मा हो जाता है। साहित्य लेखन किसी प्रकार के नियंत्रण की मांग नहीं करता। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार अपने साहित्य की गतिविधि पर हमेशा ध्यान रखते हुए प्रगतिशील साहित्य में सहयोग करना चाहिए। संसार के साहित्यकार सदा से राजनीतिज्ञों का विरोध करते आये हैं। किंतु, साहित्य का स्वरूप और विषय राजनीतिक परिणाम अवश्य उत्पन्न करता है। जैसे, आज के युग में वर्ग संघर्ष चल रहा है, साहित्यकार इससे कैसे अलग हो सकता है। बनारसीदास चतुर्वेदी की मुसीबत उन्हीं के शब्दों में "........पर मुश्किल की बात तो यह है कि पूंजीपतियों से लगाकर साम्यवादियों तक जो कोई भी सत्ता को अपने हाथ में लेना चाहता है, वह साहित्य-सेवियों की शक्ति का उपयोग अपने उद्देश्य की पूर्ति में करने के लिए लालायित रहता है। प्रत्येक सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह उनसे अपनी मानसिक स्वाधीनता की रक्षा करे, क्योंकि साहित्य-सेवी से आप मानसिक स्वाधीनता छीन लीजिए, तो वह न घर का रहेगा न घाट का।"[2] साहित्य और राजनीति का अन्तर बतलाते हुए लेखक महोदय कहते हैं कि साहित्य चिरस्थायी है राजनीतिक दलबन्दियां क्षण स्थायी हैं। स्वाधीनता संग्राम में गांधीवादी और साम्यवादी विचार धारा दोनों कार्यरत हैं, यह साहित्यकार के निर्णय पर है कि वह किस विचारधारा के साथ स्वाधीनता संग्राम में हाथ बटाना चाहता है लेकिन स्वधीनता उनका लक्ष्य होना चाहिए।

प्रश्न है कि साहित्य का राजनीति से क्या संबंध होता है और किसी साहित्यकार के लिए किसी पार्टी या विचारधारा से प्रतिबद्ध होना कहां तक उसके रचनात्मक विकास के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकता है?

---

1. विशाल भारत जनवरी 1937, पृ0 28-30

2. वही पृ0 29

21

भारतेन्दु युग से लेकर प्रेमचन्द के समय तक या उसके बाद तक हिन्दी साहित्य की एक प्रवृत्ति ब्रिटिश शासन के शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाने की रही है। भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ब्रिटिश शासन को विदेशी की संज्ञा देते हुए भारतीय जनमानस को इसके विरुद्ध लड़ने के लिए आन्दोलित किया। इस भाव की अभिव्यक्ति के पीछे एक राजनीतिक आन्दोलन की भूमिका जरूर थी। अगर रवि ठाकुर ने अपनी कहानियों में सामाजिक कुप्रथाओं की निन्दा की तो याद कीजिए 19 वीं शती के सामाजिक और धार्मिक पुनर्जागरण को। इसी संदर्भ में मैथिलीशरण गुप्त का स्मरण भी किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि राजनीतिक चेतना किसी - न - किसी रूप में साहित्य में आयगी ही, चाहे साहित्यकार अपने साहित्य में किसी राजनीतिक पार्टी का झंडा गाड़ के समाज की राजनीति से अपने को जुड़ा हुआ महसूस करे या उसकी राजनीतिक समझ की अभिव्यक्ति दूसरे धरातल पर हो। राजनीति, समाज के दूसरे पक्षों से स्वतंत्र नहीं है। ऐसा कोई बटवारा नहीं है कि सरकार बनाने का काम राजनीतिक पार्टियां करेंगी और सामाजिक सुधार का काम सामाजिक सुधारक करेंगे। 19वीं शती का सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन किस प्रकार राजनीतिक आन्दोलन को जन्म देता है और प्रखर बनाता है, यह किसी से छिपा हुआ नहीं है बल्कि ' विशाल भारत ' ने राजनीतिक आन्दोलन को ज्यादा - से ज्यादा गतिशील बनाने के लिए सामाजिक सुधार को अपना औजार बनाया।

राजनीतिक आन्दोलन में साहित्य की भूमिका उसके लक्ष्य की प्राप्ति करने की है। बनारसीदास जी चतुर्वेदी जी ने स्पष्टतः कहा कि चाहे वे साहित्यकार साम्यवादी हों या गांधीवादी लक्ष्य तो उनका स्वाधीनता की प्राप्ति है। इसलिए ' विशाल भारत ' राजनीति से साहित्य को अलग करने के पक्ष में नहीं है। ऐसा कर वह ब्रिटिश सरकार को मौका देना नहीं चाहता। जनता का हित ब्रिटिश शासन की समाप्ति में था। इसलिए जनता का साहित्य ब्रिटिश शासन का पक्षधर नहीं हो सकता था। ' विशाल भारत ' जनता के साहित्य का पक्षधर इस अर्थ में है कि व ब्रिटिश सरकार के शोषण को फलने- फूलने देना नहीं चाहता, उसकी जड़ को काटना चाहता है।

22

कोई भी राजनीतिक पार्टी समाज का एक अंग होती है। इसलिए किसी भी राजनीतिक पार्टी की भूमिका अध्ययन योग्य है। उसे राजनीतिक पार्टी मात्र कह कर उसकी अहम भूमिका को, चाहे वह समाज के विकास में हो या पतन में नकारा नहीं जा सकता है। अगर राजनीतिक दल क्षणभंगुर है तो भी सामाजिक विकास क्रम में उनकी भूमिका है। दलों की क्षणभंगुरता को शक्ल देकर उनकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। साहित्य की रचना भी समाज में ही होती है, पार्टी का गठन भी समाज में ही होता है। सामाजिक विकास की गति के साथ उसके स्वरूप और संरचना में भी कम या अधिक अन्तर आ जाता है।

हमारा साहित्य और साम्यवाद [1] में गंगा प्रसाद पाण्डेय लिखते हैं - " एक ओर तो हमारे साम्यवादी बन्धु साम्राज्यवाद का विरोध कर रहे हैं, दूसरी तरफ वे अपने इसी प्रकार के आदेशों से साहित्यिकों को एक मानसिक परतंत्रता में आबद्ध करना चाहते हैं। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि साहित्य मनुष्य की मानसिक तथा हार्दिक विचारधारा का एक चिरन्तन प्रवाह है, जो समय, परिस्थितियों और प्रलोभनों से बांधा नहीं जा सकता।" [2] गंगा प्रसाद पाण्डेय के इस लेख के प्रकाशित होने से पहले मार्च 1937 के " विशाल भारत " में डा० शिवदान सिंह चौहान का लेख " प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता " प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होंने " भारत - भारती " और छायावाद की आलोचना की थी। दुर्भाग्यवश " विशाल भारत " के उस अंक की फाइल में मुझे उस लेख के पृष्ठ फटे हुए मिले। गंगाप्रसाद पाण्डेय ने अपने लेख में "भारत - भारती " और छायावाद को चौहान जी द्वारा की गई आलोचना का उत्तर दिया है।

किसी वाद से जुड़कर साहित्य - लेखन कार्य की बड़ी गंभीर आलोचना विशाल भारत में हुई। विशाल भारत ने " प्रगतिशील चर्चा " [3] शीर्षक से एक स्तंभ ही चलाया। इसके पहले इस स्तंभ में नेतृत्व का प्रश्न [4] शीर्षक से श्रीराम शर्मा जी की एक टिप्पणी प्रकाशित हुई। इस टिप्पणी में शर्मा जी लिखते है -

---

1. विशाल भारत अप्रैल 1937, पृ0 375
2. वही पृ0 372
3. विशाल भारत मई 1939
4. वही पृ0 524-28

"हम अपने मित्रों से कहना चाहते हैं कि हम किसी Ism अथवा 'वाद' के विशेष कायल नहीं। मार्क्स और लेनिन की सभी बातें हमारे देश में लागू नहीं हो सकती। किसी भी आन्दोलन और वाद के लिए वहां की मनोवैज्ञानिक भूमि को देखना पड़ता है और भारतवर्ष की संस्कृति औद्योगिक जीवन पर नहीं है, वरन कृषि जीवन पर है।"[1] आगे वे लिखते हैं -- "जो लोग इस बात पर जोर देते हैं कि नेतृत्व फैक्ट्री और मिल मजदूरों के हाथ में रहे, उनकी अक्ल का दिवाला-सा ही निकला समझना चाहिए।"[2] इसी कड़ी में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के भी विचार देखें। "प्रगतिवाद का दुरुपयोग"[3] लेख में वे लिखते हैं -

"प्रगतिवाद के मातहत छपने वाली रचनाओं को देख कर मालूम होता है कि अपने आपको प्रगतिशील लेखक समझने वाले (यहां लेखक में कवि और कहानीकार शामिल हैं) प्रगति के दो अर्थ निकालते हैं; एक यह कि मजदूरों और किसानों या भिखमंगों और बेकारों की दयनीय दशा का खाका (कविताओं, कहानियों अथवा लेखों में) खींचा जाय, और दूसरे यह कि यौन सम्बन्धी विषयों तथा अश्लीलता की प्रचलित सीमाओं को तोड़ मरोड़ कर रख दिया जाय।"[4] आगे उनका कहना है कि भारत वर्ष किसानों और मजदूरों के अतिरिक्त और भी वर्ग के लोगों की समस्याएं हैं।

साहित्य में भावों की अभिव्यक्ति होती है किंतु विचारधारा का प्रभाव भी साहित्य पर कहीं पड़ता है। मनुष्य की सहज-प्रतिक्रिया भाव है, सोचने की एक पद्धति विचारधारा है। साहित्यकार निरीक्षण शक्ति के माध्यम से बढ़िया से बढ़िया साहित्य दे सकता है और ऐसा हुआ भी है। कोई आवश्यक नहीं कि मार्क्सवाद से जुड़कर ही बढ़िया साहित्य पैदा किया जा सके। इस दृष्टि से साहित्य में भाव की भूमिका महत्वपूर्ण है। इसलिए गंगा प्रसाद पाण्डेय जी का सोचना सही है

---

1. विशाल भारत मई, 1939, पृ० 524
2. वही पृ० 425
3. वही पृ० 480-84
4. वही पृ० 481

24

कि ' साहित्य मनुष्य की मानसिक तथा हार्दिक विचारधारा का एक चिरन्तन प्रवाह है', हांलाकि हार्दिक विचार धारा शब्द का प्रयोग गलत है। पाण्डेय जी के कथन से यह ध्वनि भी निकलती है कि लेखक। साहित्यकार विचारक नहीं। बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने बाद से जुड़ कर लिखने की जो आलोचना की है उसके पीछे भी शायद यह पृष्ठ भूमि हो सकती है।

इस विषय पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक दृष्टि कोण तो यह है कि कोई विचार धारा साहित्यकार को प्रभावित करती है। भगवतीचरण वर्मा की कहानी ' काश कि मैं कह सकता '[1] की नायिका निरुपमा का पति, जो कांग्रेस के जुलूस में सबसे आगे है, एक हिन्दुस्तानी कलक्टर के लाठी चार्ज का शिकार होता है। युवा पति कड़कते हुए उस हिन्दुस्तानी कलक्टर से कहता है - ' सरकार के टुकड़ों के गुलामों को यह जान लेना चाहिए कि ये टुकड़े उन्हें हम लोगों से ही मिलते रहे हैं।'[2] इस कहानी के पात्र की समझ क्या उसे किसी विचारधारा से नहीं जोड़ती ? क्या यह समझ वैचारिक धरातल पर नहीं बनी है ? और तो और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी ' मीरा ' जिसपर पहले चर्चा हो चुकी है, में जीवन का आत्म बलिदान क्या किसी विचारधारा का परिणाम नहीं है ? मेरा निश्चित मत है कि यह कांग्रेस की विचार धारा का परिणाम है। चाहे भगवती बाबू की कहानी ' काश कि मैं कह सकता ' के युवा पति का कड़कता स्वर हो या विद्यालंकार जी की कहानी ' मीरा ' में जीवन का आत्म बलिदान हो। इससे सिद्ध होता है कि ' विशाल भारत ' की दृष्टि में विचार धारा साहित्य से कोई अलग चीज़ नहीं है। किंतु यहां उल्लेखनीय है कि बनारसीदास चतुर्वेदी, ' गंगाप्रसाद पाण्डेय, श्रीराम शर्मा और उपेन्द्रनाथ ' अश्क ' विचार धारा और साहित्य के बीच संबंध मानते हुए भी एक खास प्रकार की विचारधारा का विरोध करते हैं और वह साम्यवाद की विचारधारा है। बनारसीदास चतुर्वेदी की दृष्टि सुधारवादी है जबकि

---

1. विशाल भारत अक्तूबर 1937, पृ० 452-56
2. वही पृ० 455

25

गंगा प्रसाद पाण्डेय, अश्क और धीराम शर्मा की दृष्टि प्रगतिवादी की विरोधी है। भी शर्मा जी मिल - मजदूरों के साथ में नेतृत्व के चले जाने का प्रम लक्षण नहीं मानते और अश्क जी औद्योगिक जीवन पर आंसू बहाते हैं। ये कृषक और उद्योग में होने वाले शोषण पर आघात नहीं करते। इसलिए जिन लोगों ने साम्यवाद की आलोचना की ढाल बनाकर उनकी एक विचारधारा रही। ये भी विचारधारा विहीन लेखक नहीं थे।

दूसरी दृष्टि यह है कि साहित्यकार विचारधारा से बचकर चले, क्योंकि साहित्यकार विचारक नहीं होता। किंतु इससे यह मतलब नहीं निकलता कि एक साहित्यकार के रूप में संसार को देखने समझने की उसकी कोई दृष्टि नहीं होती। साहित्य में विचार धारा के स्तर पर जो अन्तर्विरोध आते हैं उसके कारण विचार धारा के महत्व को कमतर के आंकना गलत होगा। अन्तर्विरोध के आने का कारण, उस समय के समाज का अन्तर्विरोध है। 'विशाल भारत' ने जहां एक तरफ ब्रिटिश शासन की नीतियों पर आघात किया है दूसरी ओर उसने मजदूर किसान और जमींदार को साथ लेकर चलने की बात की है। क्या यह अन्तर्विरोध कांग्रेस का नहीं था ? बारदोली कांग्रेस क्या इसी अन्तर्विरोध का परिणाम नहीं है ? तब यह कहना कि साहित्य चिन्तन प्रवाह है, उस पर परिस्थितियों का प्रभाव नहीं पड़ता, जैसा कि गंगा प्रसाद पाण्डेय मानते हैं, निराधार है। साहित्य ब्रिटिश शासन के खिलाफ गोलबंद बनाये, यह तो ठीक है, क्योंकि गोलबंद बनाने वालों में देश का पूंजीपति वर्ग किसान मजदूर और मध्य वर्ग शामिल है और यदि साहित्य किसानों मजदूरों को संगठित करे तो यह अश्क जी को नागवार लगता है क्योंकि वे ब्रिटिश पूंजीपतियों के चले जाने की भगवान से प्रार्थना करते हैं लेकिन हिन्दुस्तान के पूंजीपतियों को देश में बने रहने की इच्छा भी मन में रखते हैं।

यह एक विचित्र असंगति है कि 'विशाल भारत' खुद तो कांग्रेस दल से जुड़ा रहा लेकिन लेखकों को किसी पार्टी से संबद्ध रहने की सलाह नहीं देता। मानसिक परतंत्रता की बात भी इस में प्रकाशित होने वाले अनेक लेखक करते हैं। लेनिन ने ऐसे ही लोगों को मुंह तोड़ जवाब दिया था कि पूंजीपति वाद के लिए स्वतंत्रता केवल एक मक्कारी है। एक ऐसी अर्थ व्यवस्था जिसमें कुछ लोगों के हाथों में पूंजी का

नियंत्रण हो, उसमें स्वतंत्रता कैसी । लेनिन का तर्क है कि यह पूंजीवाद अश्लील साहित्य छापने के लिए स्वतंत्र है और मेहनत कश के अखबारों को गैरकानूनी करार देता है ।[1] " विशाल भारत " ने अश्लील साहित्य के विरुद्ध आन्दोलन चलाया परन्तु इसने इसकी जड़ पर आघात नहीं किया । इसकी जड़ पूंजीवादी समाज है जो अश्लील साहित्य छापकर स्वतन्त्रता का नारा लगाता है । इसलिए कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े लेखक जब एक साथ हिन्दुस्तानी और ब्रिटिश पूंजीपतियों की आलोचना करते थे तब " विशाल भारत " को कभी स्वाधीनता आन्दोलन विभाजित होने का खतरा दिखलाई पड़ता है तो कभी मानसिक पराधीनता का खतरा । यह सुधारवादी दृष्टि का ही परिणाम था ।

(घ) राष्ट्रभाषा का आन्दोलन और " विशाल भारत "

ब्रिटिश सरकार ने भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य पर दरिद्र होने का आक्षेप लगाकर अंग्रेजी अनिवार्यता को सिद्ध करने की पूरी कोशिश की । किसी देश पर शासन करने के लिए ऐसा करना अनिवार्य था । उनकी यह कोशिश थी कि समस्त भारतीय भाषाओं के बदले अंग्रेजी उन का स्थान ले ले जिससे कि भारतीय जनता, मानसिक दासता में फंसी रहे । " विशाल भारत " ने अंग्रेजी सरकार की इस चाल को पहचाना और हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिये जाने की तरफ-दारी की ।

कन्हैया लाल शास्त्री ने विशाल भारत में शिक्षा - समस्या और हमारे विद्यापीठ[1] शीर्षक से एक लेख लिखा । इसके लेखक की मान्यता है कि सरकार का उद्देश्य भारती भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी को प्रतिष्ठापित करना है । लेखक के अनुसार 1853 में सर चार्ल्स ट्रेवेल्यिन ने संसद की समिति के सामने कहा कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार - प्रसार होना चाहिए । उन्हीं के शब्दों में :-

---

1. लेनिन साहित्य के बारे में पृ0 5-11, प्रगति प्रकाशन, मास्को ।
2. विशाल भारत फरवरी 1929, पृ0 221-31

27

"उसका कहना था कि एक-ड न - एक दिन तो भारतवर्ष से इंगलैण्ड का संबंध टूटेगा ही । किन्तु यदि यहां अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार होगा, तो यह संबंध - विच्छेद इस प्रकार होगा, जो अंग्रेजों के लिए अधिक भयानक न साबित होगा । भारतवर्ष के लोग धीरे-धीरे युरोपीय तरीके से ही शिष्य भाव से अंग्रेजों की नकल करेंगे, और उन्हीं के बतलाये रास्ते पर चलते हुए अपने उद्धार का प्रयत्न करेंगे ।"[1]

इस लेख में विद्यापीठ और सरकारी शिक्षा केन्द्रों का अन्तर बताते हुए शिक्षा के माध्यम की बात की गई । लेख के अनुसार सरकारी विद्यालयों में शिक्षा अंग्रेजी के द्वारा होती है जबकि विद्यापीठ में शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय भाषाएं हैं । उन्हीं के शब्दों में - "देशी भाषा को उखाड़ फेंकना, उस देश अथवा जाति को ही उखाड़ फेंकने के बराबर है, राष्ट्रीय भाषा के नष्ट होने से राष्ट्रीय विशेषता भी नष्ट होने लगती है । हमारे अंग्रेज-शासक आरम्भ से ही इस तथ्य को अच्छी तरह समझते थे । यहां के राष्ट्रीय भाव को कुचलने तथा इसमें रहने वालों की विचार-शैली को परिवर्तित करके उन्हें अपने अनुकूल बनाये रखने के लिए यहां की भाषाओं को कुचलना आवश्यक था । इस क्रिया में अंग्रेज लोग पहले से ही निपुण थे ।"[2]

भारतीयों को किस भाषा में शिक्षा दी जाय, इस पर 19वीं शती के प्रारंभिक वर्षों में ब्रिटिश बुद्धिजीवियों के बीच बहस छिड़ गई थी । ब्रिटिश बुद्धिजीवी और शासकों के तीन वर्ग थे । पहले वर्ग का प्रतिनिधित्व ग्रान्ट महोदय करते थे, जिनका कहना था कि भारतीयों को अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे कि उनके बीच क्रिश्च्यन धर्म का प्रचार हो सके । दूसरा वर्ग बम्बई के गवर्नर-जनरल लार्ड मिन्टो (1806-13) का था जो प्राचीन भारतीय साहित्य के हिमायती थे और भारतीयों को अरबी या संस्कृत भाषा में शिक्षा देने के पक्षधर थे । तीसरा वर्ग मुनरो और एल्फिन्स्टन महोदय का था जो आधुनिक

---

1. विशाल भारत फरवरी 1929, पृ० 222
2. वही पृ० 224

28

भारतीय भाषाओं में शिक्षा देने के पक्षधर थे। इन तीनों वर्गों के विचारों में एक समानता थी और वह यह कि ये लोग भारतीय जनता के बीच अपनी संस्कृति अपनी भाषा और अपने साहित्य को प्रतिष्ठापित करना चाहते थे। अपने एक लम्बे लेख में जो 1792 में ग्रान्ट ने लिखा था, उसमें उन्होंने अंग्रेजी भारतीयों के बीच विवेक का प्रसार करने के लिए अंग्रेजी को अनिवार्य बताया। यह विवेक अंग्रेजी भाषा साहित्य की देन होगी। ये अज्ञानी भारतीयों को ज्ञानी बना देंगे। अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने का दूसरा फायदा होगा, ग्रान्ट साहब के अनुसार इसके द्वारा अंग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रति भारतीय जनता में रुचि जगाई जा सकती है।

6 मार्च 1811 की मिनट में मिन्टो महोदय ने लिखा कि भारतीयों को अरबी और संस्कृत में शिक्षा देने की आवश्यकता है, इसके द्वारा अंग्रेजी और क्रिश्चियन धर्म को स्थापित किया जा सकता है। इसका एक प्रमाण मोनियर विलियम द्वारा सम्पादित संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (1899) की भूमिका है जिसमें उन्होंने यह लिखा कि उनके गुरु कालीनाथ बोडिन की अन्तिम इच्छा थी कि ईसाइयत के धर्म-ग्रंथों का अनुवाद संस्कृत में किया जाना चाहिए जिससे हमारे देशवासी भारतीयों को ईसाइयत में शिक्षित करने के कार्य में प्रवृत्त कर सकें। मोनियर विलियम्स ने अपने गुरु की आज्ञा का पालन किया। जो 1819 से 1827 तक बम्बई के गवर्नर थे, ने भारतीय भाषाओं में शिक्षा देने पर जोर इसलिए दिया कि इसके माध्यम से युरोपीय ज्ञान भंडार को भारतीयों तक पहुंचाया जा सकता है।

1813 के चार्टर एक्ट में प्राचीन भारतीय भाषाओं के साहित्य को समृद्ध करने की बात कही गई लेकिन शिक्षा के माध्यम की कोई चर्चा नहीं की गई। 17 जुलाई 1823 को बंगाल के गवर्नर - जनरल ने एक समिति का गठन किया जिसके दस सदस्य थे। इन सदस्यों में अधिकांश संस्कृत और अरबी के समर्थक थे। इसलिए

---

1. सैय्यद नुरुल्ला और जे.पी. नायक की पुस्तक 'द स्टूडेन्ट्स हिस्ट्री आफ एजुकेशन इन इंडिया (मैकमिलन, 1945)।
2. एस. एन. मुकर्जी - हिस्ट्री आफ एजुकेशन इन इंडिया, आचार्य बुक डिपो बड़ौदा, 1951
3. दिनकर - संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल पटना, 1955

29

समिति ने लार्ड मिन्टो के विचारों का समर्थन किया । उसने कर कलकत्ता, मद्रास, और बनारस संस्कृत स्कूल को फिर से व्यवस्थित करने का निर्णय किया । समिति के निर्णय के अनुसार कलकत्ता में 1824 में संस्कृत कालेज की स्थापना हुई और आगरा और दिल्ली में प्राचीन भारतीय भाषाओं को विकसित करने के उद्देश्य से दो और स्कूल खोले गए । संस्कृति और अरबी के साहित्य का प्रकाशन भी प्रारंभ किया गया । अंग्रेजी में उनके अनुवादों का काम शुरू किया गया ।

अरबी और संस्कृत भारत के जन-सामान्य की भाषा नहीं थी । यह समाज के पंडितों और मौलवियों की भाषा थी । इन भाषाओं को प्रोत्साहन देने का अर्थ था, भारतीय जनता को राष्ट्रीय चेतना से काट देना और सरकार तथा भारतीय जनता के बीच संबंध-विच्छेद कर देना । इसलिए 1823-33 के बीच जो निर्णय किये गए, वे भारतीय जनता के हित में नहीं थे । वे निर्णय मौलवियों और पंडितों के हित की साध रहे थे जो अपने ज्ञान का वर्चस्व सामान्य भारतीय जनता पर स्थापित करना चाहते थे । ब्रिटिश सरकार भी अंग्रेजी को लादना चाहती थी, इसलिए उसने यहां के उस वर्ग के साथ दोस्ती का हाथ बढ़ाया, जो जनता की भाषा से कटा हुआ था ।

1834 में लार्ड मैकाले भारत के गवर्नर जनरल नियुक्त किये गए । 2 फरवरी 1835 में उन्होंने शिक्षा पर अपना प्रसिद्ध मिनट तैयार किया । इस में उन्होंने कहा कि विश्व साहित्य को समझने और उसके विश्लेषण का सबसे बढ़िया माध्यम अंग्रेजी है । ज्ञान - विज्ञान को भी इसी भाषा के माध्यम से समझा जा सकता है । भारतीय भाषाओं के लिए उन्होंने " डाउनवर्ड्स " शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि वे भारतीयों की भारतीय भाषाओं को पीढ़ियों का दर्जा देते थे । मैकाले की दृष्टि में भारतीय भाषाओं का न तो अपना कोई साहित्य है और न उनमें ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें हैं । इसलिए उसने एंग्लिश्वासियों को उनके इस दायित्व का ध्यान दिलाया कि उन्हें भारतीयों को अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षित करना चाहिए

---

1. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमि - ए. आर. देसाई, मैकमिलन, इन पुस्तकों के आधार पर ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीतियों का विश्लेषण किया गया है ।

30

मैकाले ने प्राचीन भारतीय भाषाओं में शिक्षा देने का भी विरोध किया और अंग्रेजी को प्रतिष्ठापित किया । परन्तु उन्होंने संस्कृत और अरबी भाषाओं को पूरी तरह से नाखुश नहीं रखा । उन्होंने मदरसा और संस्कृत पाठशालाओं को खत्म करने की बात नहीं कही । उन्होंने अपने मिनट में प्राचीन भारतीय भाषाओं के साहित्य के अनुवाद और उसके प्रकाशन के लिए सरकार की ओर से मोटी रकम खर्च करने का वायदा किया । इससे यह साफ निष्कर्ष निकलता है कि मैकाले यहां के मौलवियों और पंडितों को अप्रसन्न करना नहीं चाहते थे । राममोहन राय, जो अंग्रेजी के पक्षधर थे, का उद्देश्य भारतीयों को युरोपीय ज्ञान से परिचित कराना था, न कि ब्रिटिश सरकार के हित की साधना । ब्रिटिश सरकार के मातहत जो भारतीय काम कर रहे थे, उन्हें अंग्रेजी की शिक्षा देना भी अनिवार्य था । इसलिए मैकाले ने आधुनिक भारतीय भाषाओं को ताक पर रखते हुए अंग्रेजी और प्राचीन भारतीय भाषाओं को मान्यता प्रदान की ।

मैकाले का प्रस्ताव भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने स्वीकार किया और यह कहा कि भारत में ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारतीयों के बीच युरोपीय साहित्य और विज्ञान का प्रसार करना है । इसलिए शिक्षा के मद में जो भी राशि खर्च की जायगी उसका अधिकांश अंग्रेजी शिक्षा पर होगा ।[1] भारतीय भाषाओं को दरिद्र बताकर ब्रिटिश सरकार ने अंग्रेजी लादने की कोशिश की जिसमें वह सफल रही । ब्रिटिश साम्राज्यवाद का लक्ष्य पूरा हुआ । भारतीय भाषा और साहित्य के सर पर अंग्रेजी सवार हुई जिसका वर्चस्व आज तक बना हुआ है ।

'शिक्षा - समस्या और हमारे विद्यापीठ में' शीर्षक उसी लेख में कन्हैयालाल शास्त्री लिखते हैं - 'आयरलैण्ड पर अंग्रेजी सत्ता स्थापित होने के बाद ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने अनेक ऐसे कानून बनाये,[2] जिनसे आयरिश भाषा पनप न सके । इंग्लैण्ड के राज्यकाल में डेनमार्क के राजा को एक ऐसे व्यक्ति की

1. इंडियन एजुकेशन रिफार्म्स इन कल्चरल पर्सपेक्टिव - टी. एम. थामस, पृ0 87, एस. चान्द एंड कम्पनी, नई दिल्ली, 1970

2. यहां बनाये होना चाहिए ।

31

आवश्यकता पड़ी जो एक आयरिश लेख का अनुवाद कर देता। किन्तु अंग्रेजों ने किसी भी आयरिश को यह काम न करने दिया। आठवें हेनरी के राजत्व काल में यह नियम हो गया था कि आयरलैण्ड के गिरिजाघरों में उन्हीं पादरियों की नौकरियां मिलेंगी जो अंग्रेजी में पढ़े होंगे।[1]

भारतीय शिक्षा के संबंध में ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति रही। सरकार ने भारतीयों को हमेशा के लिए गुलाम बनाये रखने के उद्देश्य से भारतीय भाषाओं को दरिद्र प्रमाणित करते हुए अंग्रेजी का प्रभुत्व स्थापित किया। अंग्रेजी राजनैतिक प्रभुता के कारण हमारे देश में आई जिसके फलस्वरूप भारतीय भाषाओं का विकास अवरुद्ध हो गया। 'विशाल भारत' ने सरकार की इस साम्राज्यवादी नीति का विरोध कर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना (1921 में अनेक आदर्श राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हुए थे, लाहौर का कौमी विद्यालय, अलीगढ़ का जामिया मिलिया इस्लामिया, काशी विद्यापीठ) को प्रोत्साहन दिया[2]। अस्तु, जनता का साहित्य जिसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों का विरोध करना था, उनका जनता की भाषा में लिखा जाना संभव था और वह भाषा कम-से-कम अंग्रेजी नहीं हो सकती थी।

'हिन्दी ही क्यों?'[3] में प्रो० ललिता प्रसाद शुक्ल एम. ए. लिखते हैं कि युगों की पारस्परिक घनिष्ठता ने एक स्वाभाविक सामंजस्य स्थापित किया है जिससे हिन्दी भाषा के विस्तृत क्षेत्र के निवासी अपनी अपनी बोलियों का व्यवहार करते हुए भी एक ही भाषा - कुटुम्ब के बने चले आ रहे हैं। चूंकि भाषा का संगठन समान रूप वाली बोलियों तथा उपबोलियों को लेकर ही आता है इसलिए शुक्ल जी का मानना है कि किसी भाषा की परिधि में किसी विशेष बोली के प्रविष्ट होनेसे उस बोली का स्वरूप समाप्त नहीं हो जाता।

---

1. विशाल भारत, फरवरी, 1929, पृ० 224
2. कन्हैयालाल शास्त्री ने उसी लेख में इसका उल्लेख किया है।
3. विशाल भारत, अप्रैल 1944, पृ 240-45

32

'देशदूत' के होलिकांक में प्रतिपादित अमरनाथ झा के विचारों को भी वैसे जिसका उल्लेख सुकुल जी ने किया है। अमरनाथ झा जी की दृष्टि में हिन्दी की दो समस्याएं हैं। एक कि हिन्दी जिनकी मातृ भाषा है, उन्हें विशेष सतर्क रहना चाहिए क्योंकि उनके दुराग्रह से राष्ट्रभाषा हिन्दी की क्षति नहीं। यदि किसी जनपद निवासी के मन में यह धारणा बन गई कि राष्ट्रभाषा हिन्दी से ही उनकी मातृ भाषा की अवहेलना होती है, तो इससे राष्ट्रभाषा की क्षति होगी। सुकुलजी के अनुसार इससे दो प्रश्न उठ खड़े होते हैं। एक यह कि हिन्दी उसके साहित्यिक रूप) का विकास प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अन्य बोलियों के विकास में किस तरह घातक सिद्ध हो रहा है और दूसरा कि हिन्दी भाषा का राष्ट्रभाषा पद पर आसीन होना उसकी योग्यता या उपयोगिता का फल है या उसके प्रति दया या पक्षपात का। लैस्की के अनुसार किसी बोली - विशेष में आधुनिक साहित्य की रचना न होने से वह बोली लुप्त नहीं हो जाती। साधारण बोलचाल तथा साहित्यिक रूप का भेद सभी भाषाओं में होता है। फिर किसी बोली या भाषा की साहित्य सृष्टि किसी व्यक्ति या संस्था की इच्छा या अनिच्छा पर निर्भर नहीं है वरन् यह उसकी निजी योग्यता एवं सामयिक प्रेरणा पर निर्भर करती है। देश की राष्ट्र भाषा की ज़रूरत उसे राष्ट्रीयता के सूत्र में बांधने के लिए पड़ती है। व्यापार- संचालन, विचार-विनिमय तथा काव्य के लिए राष्ट्रभाषा का होना अनिवार्य है।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का सबसे बड़ा कारण यह है कि यह भारत के सबसे बड़े समुदाय की भाषा है। उत्तर भारत, बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र की भाषाओं और हिन्दी में इतना साम्य है कि उसे लोग आसानी से समझ लेते हैं। रामविलास शर्मा ने भाषा और समाज के 'राज्य भाषा - राष्ट्र भाषा' में इस पर विस्तार विचार किया है उसी अध्याय में राम विलास जी ने केरी के मत का भी खंडन किया है जो उसने 1816 में व्यक्त किया था। विलियम केरी के अनुसार हिन्दी का कोई अपना प्रदेश नहीं है। सुकुल जी के लेख पर इसी दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। हिन्दी का अपना प्रदेश है, यह भारत के सबसे बड़े प्रदेश की भाषा है। यह भाषा दूसरी भारतीय भाषाओं और बोलियों से इतना साम्य रखती है कि उसे लोग आसानी से समझ सकते हैं। इसलिए हिन्दी राष्ट्रीय एकता की भाषा है। राष्ट्रीय एकता की भाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती

33

क्योंकि यह भारतीय जनता पर शासन करने की माध्यम है। यह राजनीतिक प्रभुता की भाषा है। एक प्रतिशत ब्रिटिश शासक इसके ज़रिये बाकी भारतीयों को गुलाम बनाये रखे हैं। हिन्दी भाषा का विकास किसी बोली या भाषा का एक भार कर नहीं हुआ है जैसा अंग्रेजी के साथ घटित हुआ। भारत में अंग्रेजी दूसरी भाषा का एक भार कर पनपी। डा० अमरनाथ झा ने हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के संबंध को समझने में इस कदर भूल की है कि 31 जनवरी 1944 को काशी की प्रसाद परिषद में भाषण करते हुए उन्होंने यह शंका व्यक्त की राष्ट्रभाषा के प्रचार के नाम पर मातृभाषा पर आघात करना भी गलत होगा क्योंकि मातृभाषा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में सहायक होगी। डा० झा की मातृ भाषा मैथिली है।

डा० झा की उपरोक्त बातों पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रख लेनी चाहिए कि भारत में बुद्धिजीवियों का एक ऐसा तबका भी था जो हिन्दी और अंग्रेजी को समान रूप से देखने का आदी थी। यानी जिस तरह अंग्रेजी भारतीय भाषाओं का विकास रोके हुई है उसी प्रकार हिन्दी के राष्ट्र भाषा होने से भी यह विकास रुक सकता है। डा० झा उसी तबके के आदरणीय सदस्य है। पहली बात कि अंग्रेजी की उत्पत्ति और उसका विकास हिन्दुस्तान में नहीं हुआ, यह राजनीतिक प्रभुता की भाषा के रूप में हिन्दुस्तान में आई। जबकि हिन्दी का उद्भव और विकास यहां की धरती पर हुआ। अंग्रेजी का वर्चस्व स्थापित करने में जो राजनीतिक मंशा काम कर रही थी, वह हिन्दी के साथ नहीं थी। इसलिए मैकाले महोदय ने भारतीय भाषाओं को दरिद्र कहनाशुरू कर दिया था। हिन्दी का उद्भव और विकास यहां की जमीन पर होने के कारण सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से यह भाषा समान रूप से प्रभावित होती रही। हिन्दी से हिन्दुस्तानी गंध मिलेगी, यहां कि मिट्टी की गंध मिलेगी जबकि अंग्रेजी में कोई चाहे विद्वान हो जाय, यहां की मिट्टी से वह अपने को नहीं जोड़ सकता। इसलिए हिन्दी को अंग्रेजी का पर्याय या उपनिवेशित की मानसिकता रखना भारी भूल होगी।

---

1. विशाल भारत फरवरी 1944 पृ0 135 (चयन स्तंभ के अन्तर्गत 'आज' से लिया गया समाचार)

34

दूसरी बात ये है कि चूंकि हिन्दी का उद्भव और विकास हिन्दी प्रदेश में हुआ। इसीलिए हिन्दी प्रदेश की दूसरी बोलियों और भाषाओं से इसका साम्य होना स्वाभाविक है। अगर वैषम्य भी है तो भी हिन्दी बिहार से दिल्ली, महाराष्ट्र तक समझी जाती है। उच्चारण का फर्क जरूर होता है। जैसे, दिल्ली के वासिन्दे किसी - किसी शब्द को पूरा " उच्चारण नहीं कर पाते, मिट्टी को मिल्ट्री", स्कूल को " सकूल " और " स्टेशन " को " सटेशन " बोलते हैं, इसके बावजूद हम " सकूल " को स्कूल ही समझते हैं, सटेशन को स्टेशन ही समझते हैं।

डा० झा की मातृभाषा मैथिली है, आइए देखें मैथिली और हिन्दी में कितना साम्य है -

" नाम जानकी पहल जनीकि । पछुली मिथिला भाषा नीक ॥
कोमल वाणी अमृत समान । तकर भाव रस क्यों क्यों जान ॥
पुण्य देश में भाषा नीकि । मिथिला सबक शिरोमणि थीकि ॥[1]
तेहि भाषा में करब सुबन्ध । सीतारामक चरित्र प्रबन्ध ॥

उपर्युक्त पंक्तियाँ लाल दास रचित " रामेश्वर चरित मिथिला रामायण " के बाल काण्ड से ली गई है। इसके पक्ष में ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इन पंक्तियों में कोई साम्य नजर नहीं आता ? अगर कोई साम्य है तो मतलब भी साफ है, मैथिली या हिन्दी प्रदेश की भाषा का विकास हिन्दी में निहित है। और हिन्दी का विकास इनमें निहित है। इस दृष्टि से भी डा० झा की शंका का कोई आधार नहीं है।

तीसरी बात ये कि हिन्दी प्रदेश की सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि लगभग एक रही है। ऐसा नहीं है कि अंग्रेजों ने अवध में ज्यादा अत्याचार किया और मिथिलांचल वालों को तस्तारताउस पर बिठाया। अवध के और ब्रज के निवासी भी अंग्रेजों को विदेशी मानते थे और मिथिला के निवासी भी। समान सामाजिक

---

1. मिथिला भारती - जुलाई-अगस्त 1979, मैथिली अकादमी पटना, पृ0 58

और राजनीतिक पृष्ठ भूमि में जब हिन्दी और हिन्दी प्रदेश की बोलियों का विकास हुआ तथा हिन्दी को राष्ट्र भाषा का पद देने की बात पर डा0 झा क्यों सकोची हो जाते हैं। क्या वे मैथिली को हिन्दी प्रदेश की बोली या भाषा नहीं मानते।

चौथी बात है कि ब्रजभाषा के कवि सूरदास हिन्दी के कवि भी माने जाते हैं। अवधी के कवि तुलसीदास हिन्दी के कवि भी माने जाते हैं। मैथिली के कवि विद्यापति हिन्दी के कवि भी माने जाते हैं जबकि अंग्रेजी के कवि शैली और वर्ड्सवर्थ हिन्दी के कवि नहीं माने जाते। ऐसा क्यों ? ऐसा इसलिए कि हिन्दी प्रदेश की बोलियों और भाषाओं से हिन्दी का हर स्तर पर जो साम्य रहा है, वह अंग्रेजी के साथ किसी भी स्तर पर नहीं रहा। इसलिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनने से अंग्रेजी का विकास भले रुक जाय। लेकिन हिन्दी प्रदेश की बोलियों और भाषाओं का विकास कतई नहीं रुक सकता। इसलिए हिन्दी राष्ट्रीय एकता की भाषा है, अंग्रेजी राष्ट्र को कई टुकड़ों में बांटने की भाषा है।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिये जाने के पक्ष में जो लोग रहे हैं, उन्हें कई वर्गों में विभाजित कर देखने की जरूरत है। एक वर्ग डा0 अमरनाथ झा का रहा है जिनकी समझ में हिन्दी प्रदेश की बोलियों और भाषाओं का हिन्दी के साथ गहरा संबंध है, यह बात नहीं आई। दूसरा वर्ग उन लोगों का है, जो कन्नड़ और तामिल को भारतीय भाषाओं का दर्जा देते हैं लेकिन उर्दू को नहीं देते। अबोहर के राष्ट्रभाषा परिषद में अध्यक्ष पद से बोलते हुए पं0 वैशम्पायन जी ने कहा है ---

" जिन सत्य बातों को देखकर भी जब हमारे नेता हिन्दी उर्दू एक होने की दुहाई देते हैं तो उर्दू वाले बड़े खुश होते हैं कि अच्छा हुआ, हम हिन्दी को हड़प जायं और अहिन्दी प्रान्त वालों के कान खड़े हो जाते हैं और वे हिन्दी से दूर भागते हैं। उर्दू किसी भी प्रान्त की भाषा नहीं है। उर्दू में भारतीयत्व केवल जन्म के ही कारण है। उसकी प्रवृत्ति भारत विरोधी है। और सबसे बढ़कर उर्दू में धार्मिक पुट आने के कारण वह और भी दूर हो जाती है। बंगला, कानड़ी आदि प्रान्तीय भाषाओं संस्कृत की पृष्ठभूमि अपना सांस्कृतिक विकास लेकर

बंधी है ; किंतु उर्दू अधिक से अधिक अभारतीय बनती जाती है ।[1]

डा० वैशम्पायन की दृष्टि में उर्दू का जन्म भारत में हुआ फिर भी वह आज अभारतीय भाषा है । ` विशाल भारत ` का इस संबंध में क्या विचार रहा है, आइये देखें । ` हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी `[2] लेख में पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी जी का कहना है कि इस देश का नाम हिन्द है, इसकी भाषा हिन्दवी या हिन्दी है । यह नाम बाहर से आये हुए मुसलमानों ने रखा, जिनमें अमीर खुसरो सर्वप्रथम हैं । हिन्दी या हिन्दवी धीरे धीरे अरबी, फारसी और तुर्की शब्द के प्रभाव में आकर खिचड़ी भाषा तैयार हो गई और रेख्ता कही जाने लगी । बाद में इसमें तत्सम और तद्भव शब्द चुन चुन कर निकाल दिये गए और फारसी आदि के शब्द मुहावरे और ऐतिहासिक घटनाएं मिला दी गईं । जिसका नाम उर्दू पड़ा । कालान्तर में राजा शिव प्रसाद और डा० फालन की समझ में आया कि यह उर्दू जन साधारण से बहुत दूर जा पड़ी, इसलिए उन्होंने उर्दू को छोड़ा तो नहीं पर उसे सरल बनाया और इसका नाम हिन्दुस्तान रखा । बाजपेयी जी के अनुसार पटना नार्मल स्कूल के हेडमास्टर राय मोहन लाल ने बहुत से पारिभाषिक शब्द बनाकर डा० फालेन को दिया था जिनका उल्लेख उन्होंने अपनी हिन्दुस्तानी इंग्लिश डिक्शनरी में किया है । लेखक का कहना है कि डा० फालन की हिन्दुस्तानी में तो कुछ जान भी है लेकिन गांधी जी की हिन्दुस्तानी तो बिलकुल निर्जीव है ।

एक अन्य लेख ` उर्दू तथा हिन्दी - उर्दू की पृथकता ` में नरेश प्रसाद बख्शी, एम. ए. ने इस बात का खंडन किया है कि फारसी से उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई है । बख्शी जी के अनुसार हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्पर्क से उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई है । जिस समय दो जातियों का सम्पर्क हुआ और दिल्ली केन्द्र बना, मुसलमान शासकों ने भी जनता से बातचीत करने के लिए खड़ी बोली सीखा।

---

1. राष्ट्र भाषा विचार संग्रह - संपादक डा० न. चि. जोगेलकर, डा० भगवान दास तिवारी और शान्तिभाई जोवनपुत्रा ` पृ० 14, अनाथ विद्यार्थी गृह प्रकाशन, पुणे - 2 सं० 1756 ।
2. विशाल भारत अगस्त, 1944, पृ० 77-79
3. विशाल भारत नवम्बर, 1944, पृ० 222-24

37

लेखक ने ग्रियर्सन की इस बात का भी खण्डन किया है कि हिन्दी भाषा नाम से किसी भाषा का अस्तित्व नहीं था । लेखक का कहना है कि उर्दू का रूप प्राप्त होने से पहले भी खड़ी बोली का अस्तित्व रहा है

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार उर्दू तुर्की भाषा का शब्द है । इसका वास्तविक अर्थ शाही शिविर होता है । भारत में यह शब्द बाबर के समय आया और शाही किले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ । राज दरबार की भाषा फारसी थी किन्तु आम जनता की भाषा हिन्दी, हिन्दवी या हिन्दुस्तानी थी । खड़ी बोली का विकास मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, अम्बाला और पटियाला के पूर्वी भागों में हुआ । ' खड़ी बोली ' शब्द बहुत बाद में आया, इसके पहले हिन्दवी, हिन्दुई और हिन्दुस्तानी शब्द प्रचलित था ।

फारसी राज दरबार की भाषा थी । वह बोलचाल की भाषा नहीं थी । इस लिए राम विलास जी ने ' भाषा और समाज ' में लिखा है ---
' कहने को शासन तुर्कों का था, लेकिन उनकी राजभाषा थी फारसी । पठानों ने दिल्ली पर राज किया लेकिन दिल्ली और अफगानिस्तान दोनों जगह राजभाषा थी फारसी । फारसी के आधिपत्य के कारण तुर्की, पश्तो आदि भाषाओं को अपना स्वत्व प्राप्त न हुआ था । उन्हें अपने प्रदेशों में राजभाषा का गौरव पद न मिला था । [1] रामविलास जी यह कहना चाहते हैं कि फारसी जातीय उत्पीड़न की भाषा रही । ' विशाल भारत ' ने हिन्दी - उर्दू के अलगाव को इसी रूप में देखा है । एक तरफ फारसीकरण हो रहा था, दूसरी तरफ संस्कृतिकरण इस प्रकार हिन्दी उर्दू पहले फारसी का निशाना बनी और तब अंग्रेजों का (गिलक्राइस्ट ने हिन्दवी, अरबी और फारसी के मेल-जोल को हिन्दुस्तान कहा) ।

---

1. भाषा और समाज - डा० रामविलास शर्मा, पृ० 294, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली । 1961

38

इस प्रकार दो भाषिक संस्कृतियों का विकास हुआ । उर्दू को लोग फारसी और अरबी की हिमायती थे और हिन्दी दां लोग संस्कृत की पूजा करते थे । फारसी भी जनता की भाषा नहीं थी और संस्कृत भी नहीं । ब्रिटिश शासन के स्थापित होने के बाद फारसी और संस्कृत के पंडित जनता की भाषा से दूर रहे और पूर्ववर्ती अवशेषों की गाथा गाते रहे । ब्रिटिश शासन ने भी फारसी और संस्कृत को महत्व दिया न कि आधुनिक भारतीय भाषाओं को । इस प्रकार प्राचीन पंडितों, मौलवियों और ब्रिटिश शासकों का आशीर्वाद पाकर हिन्दी उर्दू का अलगाव बढ़ता गया । दो भाषिक संस्कृतियां विकसित हुई ।

नरेश प्रसाद बख्शी एम. ए. जी ने जैसा कहा कि हिन्दू - मुसलमानों के मेल से उर्दू भाषा का जन्म हुआ । यह सही नहीं है । बाहर से जो मुसलमान आए, उनकी एक भाषा नहीं थी । पुनः जिन अलग - अलग भाषिक संस्कृतियों का विकास हुआ, उनमें भी हिन्दू और मुसलमान ही नहीं थे । अगर यह मान लिया जाय तो तमिलनाडु के मुसलमान और हिन्दू की मातृ भाषा तमिल क्यों होगी ? एक ही भाषिक समुदाय में विविध जाति के लोग रहते हैं ।

हिन्दी - उर्दू का अलगाव बढ़ता ही गया, अरबी और फारसी शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ती गई । अलगाव को पाटने के लिए एक नई भाषा गढ़ी गई, हिन्दुस्तानी । वाजपेयी जी ने अपने लेख में इसका जिक्र किया है । हिन्दू मुसलमानों को एक करने और साहित्यिक और बोल चाल की भाषा के बीच की दूरी को कम करने के लिए हिन्दुस्तानी भाषा का आन्दोलन चला । इसी आन्दोलन के तहत गांधी जी ने उर्दू लिपि सीखने के लिए भी लोगों को प्रोत्साहित किया । विशाल भारत में ललली प्रसाद पाण्डेय का लेख ' उर्दू-लिपि और एकता प्रकाशित हुआ । इस लेख में पाण्डेय जी ने उर्दू - लिपि सीखने की आलोचना करते हुए लिखा -

आज हम से यह कहा जा रहा है कि उर्दू - लिपि और भाषा सीख लेने से मुसलमानों के साथ हमारी घनिष्ठता बढ़ेगी । कल कोई यह बात कहे कि पाजामा पहनने लगने और धोती पहनने की रीति बन्द करने से स्वराज्य जल्दी मिल सकता है, इसके पश्चात इसी ओर कदम बढ़ाते - बढ़ाते हमारे अस्तित्व को ही लुप्त कर देने का

39

उपक्रम हो जायगा । तो क्या आत्म नाश करके घनिष्ठता बढ़ाना हमारे लिए हितकर होगा । "[1]

" विशाल भारत " ने हिन्दुस्तानी का विरोध किया चूंकि हिन्दी और उर्दू का विकास ~~व्यक्त~~ एक ही जमीन पर हुआ, इसलिए दोनों भारतीय भाषाएं हैं। आज दोनों के बीच जो अलगाव पैदा हो गया है, इसे पाटने का काम हिन्दुस्तानी भाषा नहीं कर सकती है। इसलिए बम्बई हिन्दी विधापीठ के दीक्षान्त भाषण में (1944) में भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने हिन्दुस्तानी को हिन्दू - मुस्लिम पैक्ट की भाषा कहा है, एकता की भाषा नहीं ।[2] उर्दू लिपि सीखने से अस्तित्व का विनाश नहीं होजायगा । यह सोचना गलत होगा । हिन्दी और उर्दू के अलगाव के पीछे जो वर्ग कारण बना है उसकी आलोचना होनी चाहिए। सामंती व्यवस्था में फारसी और संस्कृत पढ़ने वालों का एक वर्ग जो ब्रिटिश शासन में अवशेष मात्र था, दूसरा वर्ग अंग्रेजी दां लोगों का था, जो ज्ञान - विज्ञान का एक मात्र माध्यम अंग्रेजी को मानता था । यही वर्ग स्वतंत्रता के बाद देश पर भी हावी हुआ जिसके कारण जनता की भाषा और शासक वर्ग की भाषा में एक दूरी आज तक बनी रही है। इस वर्ग का अपना राजनैतिक हित रहा । इसे समझे बौर हिन्दी - उर्दू के अलगाव को नहीं समझा जा सकता । इसी वर्ग के कारण हिन्दी का भारतीय भाषाओं से विरोध भी पैदा हुआ ।

" विशाल भारत " का एक जगह यह मानना है कि हिन्दू-मुस्लिम के मेलजोल से उर्दू भाषा जन्मी, इसके मुताबिक उसे हिन्दुस्तानी आन्दोलन का समर्थन करना चाहिए लेकिन उसने ऐसा नहीं किया है हालांकि यह स्थापना फारसी से उर्दू का जन्म मानने वालों के प्रतिक्रिया स्वरूप स्थापित हुई है । उस समय की

---

1. विशाल भारत मार्च 1946 पृ0 209-10

2. राष्ट्र भाषा विचार संग्रह पृ0 65-66

40

स्थितियों को देखते हुए इसकी प्रासंगिकता है फिर भी यह स्थापना गलत है। हिन्दी - उर्दू का आधार खड़ी बोली है जो मुसलमानों के आने से पहले भी थी और उनके शासन काल में भी मौजूद थी। यह अन्तर्विरोध क्यों आया ? इस का कारण यही था कि 'विशाल भारत' ने अलगाव के राजनैतिक कारणों पर विचार नहीं किया। अगर यह विचार हुआ होता तो शायद यह अन्तर्विरोध भी नहीं होता। तात्कालिक स्थितियों के आधार पर व्याख्या करने का यह फल निकलता है।

विशाल भारत की संपादकीय नीति

'विशाल भारत' में प्रकाशित साहित्य संबंधी सामग्रियों का विश्लेषण करने के बाद पत्रिका की संपादकीय नीति पर संक्षेप में विचार करना भी आवश्यक होगा। इससे पत्रिका का समग्र चरित्र-स्पष्ट होगा।

अब तक के विश्लेषण से यह आशय निकला है कि 'विशाल भारत' कमोबेश कांग्रेस की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली पत्रिका थी। समय-समय पर इसके संपादक बदलते गए। इसके पहले संपादक बनारसीदास चतुर्वेदी (1928-37) थे, दूसरे सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' (1938-39), तीसरे श्रीराम शर्मा (1940-45) और चौथे मोहनसिंह सेंगर (1946-47) थे तथापि सभी संपादकों ने अपने कुछ अन्तर्विरोधों के बावजूद 'विशाल भारत' को कांग्रेस दल की विचारधारा का संवाहक बनाया। चूंकि कांग्रेस उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कर रही थी, और जनता कांग्रेस के नेतृत्व में गोलबन्द हो रही थी, इसलिए पत्रिका का ऐसा विश्वास था कि स्वाधीनता की प्राप्ति कांग्रेस के द्वारा ही संभव है।[1]

कांग्रेस ने जनता के मन में जो असंतोष और अविश्वास फैला रखा था, 'विशाल भारत' के पहले संपादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने कांग्रेस के बारदोली अधिवेशन के समय संपादकीय टिप्पणी लिखकर भारतीय जनता में गांधी जी और कांग्रेस के प्रति आस्थावान होने का अनुरोध किया।

कांग्रेस की ही तरह 'विशाल भारत' के पास राजनैतिक और आर्थिक विकल्प का अभाव था, हालांकि बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने औद्योगीकरण और खादी पर 'विशाल भारत' को बहस का मंच बनाया जिसकी विस्तृत व्याख्या

1- पत्रिका के पहले संपादक बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने अपने इंटरव्यू के दौरान मुझे बताया कि 'विशाल भारत' के संपादक के उम्मीदवार के रूप में महात्मा गांधी थे उनका नाम इसके प्रकाशक रामानन्द चटर्जी को भेजा था। रामानन्द चटर्जी ने इस बारे में महात्मागांधी से राय मांगी थी। -- शोधार्थी

तीसरे अध्याय में हुई है फिर भी उनकी परिणति कांग्रेस की वैचारिक परिणति में ही प्रतिफलित हुई । हां, यह सच है कि अपने संपादन काल में चतुर्वेदी जी ने भारत के सात राज्यों में बनी कांग्रेसी सरकार की गतिविधियों का विश्लेषण कर यह निष्कर्ष निकाला कि ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस की सरकार के चरित्र में कोई अन्तर नहीं है । इस निष्कर्ष की पुष्टि मोहनसिंह सेंगर ने स्वाधीनता प्राप्ति के एक वर्ष पहले अपने देश के पूंजीपतियों द्वारा विदेशी पूंजीपतियों को निमंत्रण से संबंधित टिप्पणी से हुई । इससे यह बात परिलक्षित होती है कि संपादकों के मन में कांग्रेस का अन्तर्विरोध बहुत कुछ स्पष्ट था किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में कांग्रेस की अनिवार्य भूमिका को नकारने का अर्थ था, स्वाधीनता के लक्ष्य से दूर होना, यह 'विशाल भारत' के संपादकों की समझ थी ।

इसलिए कांग्रेस भीतर होने वाले वैचारिक विकास का प्रभाव भी 'विशाल भारत' पर पड़ा । 1930 के बाद कांग्रेस में वामपंथी विचारधारा प्रमुख होने लगी । 1934-35 में 'विशाल भारत' ने भी साम्यवादी विचारधारा से संबंधित कई लेख छापे । द्वितीय विश्व युद्ध में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका कांग्रेस की कोपभाजन बनी तो 'विशाल भारत' के तत्कालीन संपादक श्री राम शर्मा ने नेहरू जी के विचारों को उद्धृत करते हुए यहां की कम्युनिस्ट पार्टी को देश-द्रोही की संज्ञा दी । इसका विस्तृत वर्णन तीसरे अध्याय में हुआ है ।

वस्तुत: किसी राजनैतिक और आर्थिक विकल्प के अभाव का कारण उस समय की कांग्रेस पार्टी का अन्तर्विरोध था जिसके सामने स्वतंत्रता की अवधारणा ही पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं हो पाई थी । कम्युनिस्ट पार्टी के बनने के दस साल बाद भी 'विशाल भारत' की समझ थी कि भारतीय जनता में जो छवि महात्मा गांधी और कांग्रेस की बनी है वह कम्युनिस्ट पार्टी की नहीं है और चूंकि इस पार्टी की दृष्टि में स्वतंत्रता की एक वर्ग-संरचना भी थी जो विशाल भारत' की दृष्टि में भारतीय जनता में फूट पैदा कर सकती थी, इसलिए रहस्यमयी स्वाधीनता

के तात्कालिक लक्ष्य को देखते हुए इसने कांग्रेस के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने का फैसला किया ।

किन्तु, यहां संपादकों के वैचारिक अन्तर की भी संक्षेप में चर्चा कर देनी होगी । बनारसीदास चतुर्वेदी, अज्ञेय, श्रीराम शर्मा और मोहनसिंह सेंगर, सभी संपादकों की दृष्टि कांग्रेस के समर्थन में निर्मित हुई । परन्तु चतुर्वेदी जी ने 'विशाल भारत' में साम्यवादी विचारधारा से संबंधित लेखों का प्रकाशन कर एक तरह से कांग्रेस के भीतर प्रगतिशील तबकों के समर्थन में आवाज उठाई, जबकि अज्ञेय जी ने द्वितीय विश्व युद्ध को लेकर स्व० जी० वेल्स का समर्थन करते हुए औपनिवेशिक राष्ट्र में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन को ओझल कर दिया । इसका विस्तृत विश्लेषण दूसरे अध्याय में हुआ है । उनकी भावुकतापूर्ण टिप्पणी भी साम्यवाद के विरोध में ही जाती है । श्रीराम शर्मा ने खुलकर नेहरू जी के विचारों की शीतल छांव में यहां की कम्युनिस्ट पार्टी को देश-द्रोही कहा परन्तु संपादक मोहन सिंह सेंगर के समय तक कांग्रेस की कलई खुल चुकी थी । इसलिए उन्होंने अपने देश की जनता को इससे आगाह करना बेहतर समझा । भारत के टाटा और बिड़ला ने विदेशों के पूंजीपतियों को यहां कारखाना खोलने के लिए निमंत्रित किया जिसकी बड़ी तीक्ष्ण आलोचना मोहन सिंह सेंगर की कलम से हुई । इसका उल्लेख तीसरे अध्याय में हुआ है ।

'विशाल भारत' के प्रकाशक रामानन्द चटर्जी भी बहुत बड़े पत्रकार थे । इसलिए एक पत्रकार की दृष्टि में दूसरे पत्रकार की स्वतंत्रता का पूजनीय होना स्वाभाविक है । अहिंसा के बारे में रामानन्द बाबू की दृष्टि भावना प्रधान है । वे यह मानते हैं कि इसके बिना स्वतंत्रता हासिल की ही नहीं जा सकती । इसलिए पहले अहिंसा और तब स्वतंत्रता , यह उनकी धारणा थी, जबकि बनारसीदास चतुर्वेदी जी की समझ बहुत व्यावहारिक थी । उनके लिए अहिंसा स्वतंत्रता प्राप्ति का एक हथियार था । प्रकाशक और संपादक की दृष्टियों में इस अन्तर के आने का कारण प्रकाशक की दूरदर्शिता है । इसलिए पत्रिका व्यावसायिक पत्रकारिता से मुक्त होकर जनता के बीच अपने लक्ष्य को रखने और पूरा करने में सफल हुई ।

अपने इंटरव्यू के दौरान चतुर्वेदी जी ने मुझे बताया कि इस पत्रिका के प्रकाशन के कुछ ही वर्षों बाद रामानन्द चटर्जी को एक लाख का घाटा हुआ फिर भी रामानन्द बाबू पत्रिका निकालते रहे । चतुर्वेदी जी के अनुसार दो हजार ग्राहकों को समेटने वाली यह पत्रिका कभी भी फायदे में नहीं रही । उन्हीं के अनुसार रामानन्द बाबू का उद्देश्य ही कुछ और था । यह व्यावसायिक पत्रकारिता के चंगुल से मुक्ति का दूसरा प्रमाण है । इस पत्रिका ने किसी समस्या पर अपनी बेलाग टिप्पणी नहीं दी बल्कि उससे संबंधित लेख छापे, वाद-विवाद का मंच तैयार किया और तब पाठकों के सामने पूरे तर्क के साथ निर्णय दिया । पाठक को भी निर्णय करने का अधिकार है लेकिन पत्रिका द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर । जैसे, 'विशाल भारत' खादी के पक्ष में हरिभाऊ उपाध्याय का लेख छापा, ठीक इसके विपक्ष में अनिलवरण राय के लेख छपे । उसी तरह अहिंसा पर भी संपादक और प्रकाशक के अलग-अलग विचार देख जा सकते हैं । यह स्वस्थ पत्रकारिता का लक्षण है ।

इस प्रकार 'विशाल भारत' का जन्म विशेष परिस्थितियों में विशेष लक्ष्य को पाने के लिए हुआ था । इसलिए पत्रिका की संपादकीय नीति के समक्ष वह विशेष लक्ष्य प्राथमिक था बाकी सारी चीजें द्वितीय थीं । 'विशाल भारत' समय-विशेष की उपज था इसलिए उस समय - संदर्भ में ही पत्रिका ऐतिहासिक महत्व को प्राप्त करती है ।

पंचम अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

'विशाल भारत' का मूल्यांकन महात्मा गांधी और कांग्रेस के परिप्रेक्ष्य में ही समीक्षा करना होगा। गांधी जी ने 1922 के बाद भारतीय जनता के समक्ष ठोस रचनात्मक कार्यक्रम रखा जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय आन्दोलन को तेज करना था। हालांकि इसकी सीमाएं थी। 'विशाल भारत' ने भी सामाजिक कार्यक्रमों के बारे में गांधी जी की दृष्टि का अनुसरण किया है। 1930 के बाद कांग्रेस के भीतर वामपंथी विचारधारा धीरे-धीरे अपनी ज़मीन तैयार करने लगी थी। 1935 के और उसके बाद 'विशाल भारत' ने भी अपने मंच से वामपंथी विचारधारा का प्रचार-प्रसार किया है। इससे संबंधित लेख छपे बहस का आयोजन किया गया। ऐसा कर पत्रिका ने भारतीय जनता को राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था के बारे में सोचने के लिए विवश किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका पर नेहरू जी की टिप्पणी का इसने खुलकर समर्थन किया। इस तरह कांग्रेस की विचारधारा को भारतीय जनता के बीच प्रचारित-प्रसारित करने में इस पत्रिका का विशेष योगदान रहा है।

परन्तु प्रश्न है कि 'विशाल भारत' ने कांग्रेस को ही एक मात्र विकल्प के रूप में क्यों स्वीकार किया? बनारसीदास चतुर्वेदी जी के अनुसार रामानन्द चटर्जी ने महात्मा गांधी से 'विशाल भारत' के सम्पादक के लिए राय-मशविरा किया। गांधी जी ने बनारसीदास चतुर्वेदी जी का नाम प्रस्तावित किया। रामानन्द बाबू इस नाम पर सहमत हो गए। इस घटना से इस सवाल का जवाब मिल जाता है। परन्तु इसी घटना तक अपने को सीमित रखना जवाब देने से मुकरना भी है।

1921 के पहले तक कांग्रेस शहरी मध्यवर्गीय लोगों की पार्टी बन कर रह गई थी। महात्मा गांधी ने कांग्रेस को भारतीय गांवों तक फैलाया और इस तरह

1921 के बाद का राष्ट्रीय आन्दोलन सही अर्थों में पूरे हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व करने लगा । हिन्दुस्तान की जनता, चाहे वह गाँव से आती हो या शहर से, वह निम्न वर्ग की हो या मध्य वर्ग की कांग्रेस की आवाज पर ब्रिटिश शासन के खिलाफ लड़ने के लिए संगठित हुई । यह महात्मा गांधी जी के प्रयासों का ही परिणाम था । कांग्रेस ने स्वतंत्रता की अवधारणा को विस्तृत रूप में राजनीतिक और आर्थिक विकल्प को सामने रखते हुए विचार नहीं किया परन्तु भारतीय जनता के मन में यह विश्वास जगा दिया कि भारत की धरती से ब्रिटिश सरकार को यही उखाड़ सकती है ।

"विशाल भारत" का प्रकाशन 1928 से प्रारंभ हुआ । 1928 के बाद कांग्रेस जनता के बीच और ज्यादा लोकप्रिय होती गई । इसलिए "विशाल भारत" ने कांग्रेस की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया । "विशाल भारत" के प्रकाशन का उद्देश्य स्वाधीनता-प्राप्ति था और कांग्रेस का भी । परन्तु "विशाल भारत" के संपादक बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने समय-समय पर कांग्रेस को उसके भटकाव का भी अहसास कराया । महात्मा गांधी जहां अहिंसा से स्वराज्य चाहते थे, चतुर्वेदी जी के लिए अहिंसा-हिंसा बड़ा प्रश्न नहीं था, प्रश्न था स्वाधीनता का , चाहे वह जैसे आये । उसी तरह 1935 के बाद सात राज्यों में बनी कांग्रेस की सरकारों का तथ्यपूर्ण विश्लेषण कर "विशाल भारत" ने पुनः अहसास कराया कि कांग्रेस जनता की पार्टी है कुछ लोगों की नहीं । आजादी मिलने से कुछ महीनों पहले भारत में विदेशी पूंजी की घुसपैठ पर इसके तत्कालीन संपादक मोहन सिंह सेंगर की रोचपूर्ण टिप्पणी भी कांग्रेस को सावधान हो जाने का संकेत है ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि "विशाल भारत" ने कांग्रेस का अंध-समर्थन नहीं किया है बल्कि समय-समय पर उसे सावधान किया है । किन्तु, फिर हम यहां दूसरे सवाल से घिर जाते हैं ? यदि "विशाल भारत" ने आगे चलकर कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के चरित्र में कोई फर्क महसूस नहीं किया, वैसी स्थिति में कांग्रेस को सावधान करने की जरूरत क्यों पड़ी ? क्या

पत्रिका के पास कोई दूसरा विकल्प नहीं था ? सावधान करने की जरूरत के पीछे एक ही तर्क था जो 'विशाल भारत' की सुधारवादी दृष्टि का द्योतक है । इस पर संक्षेप में विचार करने की आवश्यकता है ।

विशाल भारत' पर 19 वीं शती के सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन का प्रभाव दो तरह से पड़ा है । एक राजनैतिक आन्दोलन को तेज करने की दृष्टि से और दूसरा ब्रिटिश सरकार मात्र को उखाड़ फेंकने की दृष्टि से । मात्र से मेरा अभिप्राय है कि जिस तरह 19 वीं शती के नेता मिलाजुलाकर भारतीय समाज के प्रति सुधारवादी दृष्टि रखते थे, थोड़ा-बहुत रद्दो-बदल ही उन्हें काफी लगता था, उसी तरह 'विशाल भारत' ने भी भारतीय समाज में परिवर्तन के प्रति सुधारवादी रुख अपनाया है । इसलिए यदा-कदा उसे यह बोध होने लगता है कि कांग्रेस में पूंजीपतियों का वर्चस्व तो बढ़ रहा है परन्तु इसका निदान किसी नए विकल्प को खोजने में नहीं है ।

'विशाल भारत' का स्वरूप साहित्यिक पत्रिका का नहीं रहा है । इसके प्रकाशन का राजनैतिक उद्देश्य था । इसमें प्रकाशित साहित्यिक सामग्रियों के पीछे यह उद्देश्य निहित था । पत्रिका ने अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए ऐसी विधाओं को ज्यादा प्रोत्साहन दिया जिसमें विचारों की अभिव्यक्ति की प्रधानता हो । इसलिए गद्य की अनेक विधाओं को इस मंच से प्रोत्साहन मिला, विशेषत: जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र को । कविताएं भी छपी परन्तु कथा-प्रधान या कथात्मक कविताओं को ही ज्यादा प्रोत्साहन मिला ।

1936 के बाद हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन तेज होने लगा । एक दृष्टि से वह समय विवादास्पद भी बना । इस दौर में 'विशाल भारत' पे विचारधारा की प्रतिबद्धता, जिस पर उस समय गरमागरमी बहस चल रही थी, की ओर से मौन रहने का ही प्रयास किया । कारण कि प्रगतिवादी साहित्य ने शासक वर्ग के साहित्य और जनता के साहित्य के बीच एक विभाजक रेखा खींच रखी थी, जो

इस पत्रिका के अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन की 'इंटिग्रिटी' के लिए खतरनाक नहीं सिद्ध हो सकती थी। इसने प्रगतिवादी साहित्य को प्रोत्साहित अवश्य किया, (अज्ञेय के सम्पादन काल में प्रोत्साहन का स्वर कुछ धीमा पड़ गया था) परन्तु अपनी प्रतिबद्धता प्रदर्शित नहीं की। यह भी सुधारवादी दृष्टि का ही द्योतक है।

ये उसकी सीमाएं रही हैं। इसके बावजूद 'ब्रिटिश सरकार शोषण के खिलाफ व्यवस्थित रूप में इसके आवाज उठाई, जनता को जाग्रत किया। पूरे राष्ट्र को सरकारी दमन-चक्र के विरुद्ध खड़ा करने का प्रयास किया। राष्ट्रीय आन्दोलन में 'विशाल भारत' का यह महत्वपूर्ण योगदान अविस्मरणीय है।

सन्दर्भ-सूची

1- अयोध्या सिंह - भारत का मुक्ति संग्राम, मैकमिलन, दिल्ली ।

2- अलेक्सान्द्र जेवलेव- समाजवाद और पूंजीवाद के अन्तर्गत राष्ट्रीय प्रश्न, प्रगति प्रकाशन, मास्को ।1978

3- आर0 सी0 मजुमदार, के0के0 दत्त और राय चौधरी, भारत का वृहत्त इतिहास -मैकमिलन, दिल्ली ।1974

4- ए0 आर0 देसाई -भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन, दिल्ली ।1977

5- ए0 एल0 बाशम - ए कल्चरल हिस्ट्री आव इंडिया क्लैरेण्डो प्रैस 1975 ।

6- कृष्ण बिहारी मिश्र -हिन्दी पत्रकारिता, ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता, 1958 ।

7- कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का संक्षिप्त इतिहास, प्रगति प्रकाशन, मास्को ।

8- जीवतराम भगवानदास कृपलानी-महात्मा गांधी जीवन और चिंतन, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, सितंबर, 1976 ।

9- ताराचन्द- भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार ।1965

10- न0चि0जोगेलकर- डा0 भगवानदास तिवारी और शान्तिभाई जीवन पुत्र- राष्ट्रभाषा विचार संग्रह, अनाथ विद्यार्थी, गृह प्रकाशन पुणे, 1956 ।

11- पर्सिवल स्पीयर, द हिस्ट्री आव इंडिया पैंग्विन ।

12- पी0 के0 गोपालकृष्णन- भारत में अर्थशास्त्र संबंधी विचारों का विकास, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-1980 ।

13- ~~पी0पी0 चौबे~~ --

14- विपिन चन्द्र- आधुनिक भारत, राष्ट्रीय शैक्षिक एवं अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली ।1970

15- बिपिनचन्द्र - भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का विकास, मैकमिलन, दिल्ली-1974 ।

16- टी० एम० थौमस : इंडियन एजुकेशन रिफार्मस इन कल्चरल पर्सपेक्टिव एस०चन्द्र एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली-1970 ।

17- रजनी पाम दत्त- आज का भारत- पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।

18- राना डे, ~~बायग्राफी~~ His wife's reminiscences - Ramabai Ranade - Tr. by. Kusumvati Deshpande, Publication Division, Sep 1963

19- राहुल सांकृत्यायन- दर्शन-दिग्दर्शन किताब महल, इलाहाबाद, 1944 ।

20- राम शरण शर्मा- पूर्वकालीन भारतीय समाज और अर्थ व्यवस्था, मोतीलाल बनारसीदास, पटना-1978 ।

21- राम शरण शर्मा, आस्पैक्ट्स आव पौलिटिकल आइडियाज़ एण्ड इंस्टिट्यूशन्स इन एनशियंट इंडिया ", मोतीलाल बनारसीदास, 1952 ।

22- रोमिला थापर, बिपिन चन्द्र और हरबंस मुखिया- कम्यूनलिज्म एण्ड राइटिंग आव हिस्ट्री, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969 ।

23- रामधारी सिंह दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल पटना, 1955 ।

24- रामविलास शर्मा- भाषा और समाज पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-1961 ।

25- लेनिन- साहित्य के बारे में प्रगति प्रकाशन - मास्को ।

26- विनोद शंकर व्यास- प्रसाद और उनके समकालीन हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी 1960.

27- संपूर्ण गांधी वांगमय - भाग 23, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, सितम्बर 196?

पत्र-पत्रिकाएं

1- विशाल भारत (वि०भा०)-1928-37
सं०-बनारसीदास चतुर्वेदी, 91-अपर सरकुलर रोड, कलकत्ता-1 ।

2- विशाल भारत-1938-39, सं०-स०ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' ।
प्रकाशक -लक्ष्मीनारायण नाथ, प्रवासी प्रेस, 12012, अपर सरकुलर रोड, कलकत्ता -1 ।

3- विशाल भारत-1940-44, सं०- श्रीराम शर्मा ।
प्रकाशक- रमेश चन्द्र राय चौधरी, प्रवासी प्रेस, अपर सरकुलर रोड, कलकत्ता-1 ।

4- विशाल भारत- 1945-47, सं० मोहनसिंह सेंगर ।
प्रकाशक- निवारणचन्द्र दास, 12012, अपर सरकुलर रोड, कलकत्ता-1 ।

5- नेशनल फ्रंट-सं० पी०सी० जोशी-23 अप्रैल 1939 ।

6. मिथिला भारती, जुलाई-अगस्त 1979, मैथिली अकादमी, पटना ।